सुलभ पुस्तकमाला ४ संख्या

केशव की काव्य-कला

लेखक

पं० कृष्णशंकर शुक्ल, एम० ए०

प्रकाशक

सुलभ पुस्तकमाला-कार्यालय,

बड़ागणेश, बनारस

तृतीय संस्करण]   संवत २…   [मूल्य २॥)

उपक्रम

'केशव की काव्य-कला' पाठकों के सामने स्तुत करते हुए जितना आनंद आज हमें प्राप्त हो रहा है उतना आनंद इसके लेखक को भी न प्राप्त होता होगा, क्योंकि यह आलोचना हमारे अनुरोध की रचा है। आज से कुछ दिनों पूर्व मैंने शुक्लजी से केशव की आलोचना प्रस्तुत करने का अनुरोध किया था। आपने बड़े मनोयोग और सतत परिश्रम के साथ यह पुस्तक प्रस्तुत की है। पुस्तक कैसी है इसका निर्णय तो आलोचक करते रहेंगे, पर यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि केशव के ग्रंथों के मूल आधार के विषय में जो अटकल से लिखी हुई कुछ भ्रांत धारणाएँ फैल गई थीं अब उनके लिए भटकने की आवश्यकता नहीं।

केशव जिस समय हिंदी में अपने ग्रंथ प्रस्तुत करने लगे उस समय इनके नेत्रों के सामने संस्कृत के ग्रंथ नाच रहे थे, इसीलिये इनके सभी ग्रंथ संस्कृत को ही आधार बनाकर खड़े हुए। इनके जितने ग्रंथ प्राप्त हैं सभी संस्कृत के ग्रंथों की छाया पर हैं। केवल इनकी 'रतनबावनी' ही सोलहो आने मौलिक रचना है। इसका कारण यही है कि वह इनकी लड़कपन की रचना है, उस समय तक इनकी आत्मा ने आचार्यत्व का चोला नहीं पहना था। जब से इन्होंने आचार्य का आसन ग्रहण किया तब से इन्हें संस्कृत की शास्त्रीय पद्धति को हिंदी में जमाने की धुन सवार हो गई। उसे इन्होंने जीवन के अंत तक नहीं छोड़ा। 'रामचंद्रिका' के देखने से ऐसा जान पड़ता है, मानो ये किसी को पिंगल की पद्धति सिखला रहे हों। पुस्तक के आरंभ से ही इसका आभास मिलने लगता

है। एक वर्ण के छंद से क्रमशः कई वर्ण के छंदों तक वर्णन चला चलता है। आगे चलकर वर्णवृत्तों के विभिन्न रूपों का भी कम विस्तार नहीं है। केशव ने इतने अधिक और ऐसे-ऐसे वर्णवृत्तों का प्रयोग किया है जो पिंगल के प्रस्तार से ही जाने जा सकते हैं, साधारणतः जिनका प्रयोग नहीं होता। 'रामचंद्रिका' में 'प्रसन्नराघव', 'हनुमन्नाटक', 'कादंबरी' आदि कई ग्रंथों की छाया है; कितने ही अंश तो कोरे अनुवाद ही हैं।

'कविप्रिया' कविशिक्षा की पुस्तक है, इसमें संस्कृत के अलंकार-संप्रदायवाले आचार्यों का अनुगमन किया गया है। यद्यपि केशव के पूर्व संस्कृत में ध्वनि की स्थापना भली भाँति हो चुकी थी, तथापि केशव ने अलंकार की पुरानी धारणा को ही प्रधानता दी है। इन्होंने 'अलंकार' शब्द को उसी व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है जिसमें उसको दंडी, वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने लिया है। इसीलिये पारिभाषिक अर्थ अनुसार 'विशेषालंकार' के अतिरिक्त इन्होंने 'सामान्यालंकार' के अंतर्गत काव्य की शोभा बढ़ानेवाली सभी सामग्री जुटा दी है। इनके दूसरे लक्षण-ग्रंथ 'रसिकप्रिया' में संस्कृत के तद्विषयक ग्रंथों से कुछ विभिन्नता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि केशव ने इसमें कोई नई बात लिखी है, वरन् इन्होंने नायिका भेद के तत्त्व को न समझकर उसमें कुछ बातें 'कामतंत्र' की भी जोड़ दी हैं। इनके अनुकरण पर आगे चलकर कुछ कवियों ने नायिका-भेद के ऐसे ग्रन्थ भी प्रस्तुत किये जिन्हें कामशास्त्र का ग्रन्थ कहना चाहिए। शृंगार के जो दो भेद 'प्रकाश' और 'प्रच्छन्न' किए गए हैं, वे तात्त्विक दृष्टि से कोई मूल्य नहीं रखते। 'रसिकप्रिया' के आधारभूत ग्रंथ 'रसमंजरी', 'नाट्यशास्त्र', 'कामसूत्र' आदि जान पड़ते हैं।

केशव ने अपनी 'विज्ञानगीता' संस्कृत के 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक के आधार पर लिखी है, पर जिस प्रकार इन्होंने अपने अन्य ग्रंथों में मूलग्रंथों से कुछ-न-कुछ विभिन्नता रखी है उसी प्रकार इसमें भी कथा के नाटकीय रूप में थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया गया है; यद्यपि संवादों का रूप-रंग और पात्र प्रायः वे ही हैं। एक बात और है। केशव ने

जिस प्रकार 'रामचंद्रिका में यथास्थान पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति दिखाई है उसी प्रकार 'विज्ञान-गीता' में भी शरद् आदि के वर्णन अनावश्यक ही जोड़ दिए गए हैं।

यद्यपि स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी की टीकाओं के कारण विद्यार्थियों को केशव के ग्रंथ लगा लेने में सुविधा होने लग गई थी, तथापि केशव की एक अच्छी आलोचना के बिना उनका काम फिर भी नहीं चलता था। अब हम आशा करते हैं इस पुस्तक के प्रस्तुत हो जाने से वह कठिनाई भी दूर हो जायगी।

पौष, १९९०
ब्रह्मनाल, काशी।

—विश्वनाथप्रसाद मिश्र

उपक्रमणिका

केशव की काव्य-कला

१. कवि का संक्षिप्त परिचय

सूर्यवंश की गहरवार शाखा में वीरसिंह नामक एक राजा हुए थे। इनकी बारहवीं पीढ़ी में रुद्रप्रताप नामक एक राजा हुए जिन्होंने केशवदास के पितामह कृष्णदत्त मिश्र को अपने यहाँ पुराण-वृत्ति पर नियुक्त किया। इनके विषय में केशवदासजी ने अपने कविप्रिया नामक ग्रंथ में लिखा है—

नृप-प्रतापरुद्र सु भये तिनके जनु रन-रुद्र।
दयादान को कल्पतरु गुननिधि सील-समुद्र ॥ १ ॥
नगर ओरछो जिन रच्यो, जग में जागति कृत्ति।
कृष्णदत्तमिश्रहिं दई जिन पुरान की वृत्ति ॥ २ ॥

इन्हीं प्रसिद्ध रुद्रप्रताप के पुत्र मधुकरशाह हुए। इनके विषय में—

सबल साह अकबर अवनि, जीति लई दिसि चारि।
मधुकरसाह नरेस गढ़, तिनके लीन्हें मारि ॥ १ ॥
खान गनै सुलतान को, राजा रावत बादि।
हारे मधुकरसाह सों, आपुन साह मुरादि ॥ २ ॥
साध्यो स्वारथ साथ ही, परमारथ सों नेह।
गयो सु-प्रभु वैकुंठ-मग, ब्रह्मरंध्र तजि देह ॥ ३ ॥

इन्हीं मधुकरशाह ने केशवदास के पिता काशीनाथ मिश्र का बड़ा सम्मान किया और इन्हीं को केशव के बड़े भाई बलभद्र मिश्र पुराण सुनाया करते थे। मधुकरशाह के पुत्र रामशाह ओरछा के राजा हुए।

इनके आठ भाई और बहुत सा परिवार था। इन्होंने अपने छोटे भाई इंद्रजीत के ऊपर राज्य का सब भार रख दिया था। इनके आश्रय में केशवदासजी रहा करते थे। इनके विषय में कवि ने लिखा है कि ये बहुत गंभीर प्रकृति के तथा उदार दानी थे। ये केशवदास का बहुत सम्मान करते थे और इन्होंने २१ गाँव कविजी को दिए थे। इंद्रजीत इनको गुरु के समान मानते थे और इंद्रजीत के ही कारण रामशाह भी केशव को मित्र तथा मंत्री समझते थे और इनपर बहुत भरोसा करते थे।

गुरु करि मान्यो इंद्रजित, तन मन कृपा बिचारि।
ग्राम दये इकवीस तब, ताके पायँ पखारि॥ १॥
इंद्रजीत के हेत पुनि, राजा राम सुजान।
मान्यो मन्त्री मित्र कै, केशवदास प्रमान॥ १॥

एक बार इंद्रजीत ने तीर्थयात्रा के समय जब कि केशव भी उनके साथ गये हुए थे, उनसे कुछ माँगने को कहा तो उन्होंने कहा कि हमें आपकी कृपा छोड़ और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं।

इंद्रजीत तासों कह्यो, माँगन मध्य प्रयाग।
माँग्यो सब दिन एकरस, कीजै कृपा सभाग॥ १॥

प्रसिद्ध बीरबल से भी इनका बहुत कुछ परिचय था और वे भी इन्हें बड़ी सम्मान की दृष्टि से देखा करते थे। एक बार बीरबल ने भी इनसे कुछ माँगने को कहा तो इन्होंने सिवा इसके कि आपके दरबार में रोक-टोक न हो, और कुछ नहीं माँगा।

योंही कह्यो जु बीरवर, माँगि जु मन में होय।
माँग्यो तव दरबार में, मोहिं न रोकै कोय॥ १॥

बीरबल के विषय में इन्होंने एक स्थान पर और भी लिखा है—

पाप के पुंज पखावज केसव, सोक के संख सुने सुखमा में।
झूठ के झालरि झाँझ अलोक के, आवझ यूथन जाने जमामें॥

भेद की भेरी, बड़े डर के ढक, कौतुक भो कलि के कुरमा में।
जूझत ही बलबीर, बजे बहु दारिद के दरबार दमामें॥

अपने नगर ओरछे तथा उसके पास की बेतवा नदी इत्यादि का वर्णन बड़े प्रेम तथा उत्साह से किया है। बेतवा नदी—

ओरछे तीर तरंगिनि बेतवै ताहि तरै रिपु केसव को है।
अर्जुन बाहु प्रवाह प्रबोधित रेवा-ज्यों-राजन की रज मोहै॥
ज्योति जगै जमुना-सी लगै जगलोचन लालित पाप बियो है।
सूर-सुता सुभ संगम तुंग तरंग तरंगित गंग-सी सोहै॥

ओरछा नगर—

चहूँ भाग बाग बन मानहुँ सघन घन,
सोभा की-सी साला, हंस-माला-सी सरितवर।
ऊँचे-ऊँचे अटनि पताका अति ऊँची जनु,
कौसिक की कीन्हीं गंगा खेलत तरलतर॥
आपने सुखनि आगे निंदत नरेंद्र और,
घर-घर देखियत देवता-से नारिनर।
केसोदास त्रास जहाँ केवल अदृष्ट ही को,
बारिए नगर और ओरछा नगर पर॥

इंद्रजीत के राज्य में केशवदासजी बड़े सुख से दिन बिताते थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—

'भूतल को इंद्र इंद्रजीत राजै जुग-जुग,
केसोदास जाके राज राज-सो करत है'।

इंद्रजीत काव्य, साहित्य, नृत्य, गीत इत्यादि के बड़े प्रेमी थे। इनके यहाँ बहुत सी वेश्याएँ थीं, जिनमें छः बहुत प्रसिद्ध थीं। ये वेश्याएँ नृत्य, गीत, काव्य इत्यादि में निपुण थीं। इनमें-से कोई कोई काव्य-रचना भी कर लेती थीं। इनमें-से एक के पढ़ने के लिये केशवदासजी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक कविप्रिया की रचना की थी—

सविता जू कविता दई, ताकहँ परम प्रकास।
ताके काज कविप्रिया, कीन्हीं केसवदास ॥

इन वेश्याओं का वर्णन केशवदासजी ने बड़ी श्रद्धा से किया है। भाव की उमंग में राय-प्रवीन को इन्होंने लक्ष्मी, सरस्वती तथा पार्वती के रूप में देखा है।

रतनाकर लालित सदा, परमानंद लीन।
अमल कमल कमनीय कर, रमा कि राय प्रबीन ॥ १ ॥
राय-प्रबीन कि सारदा, सुचि रुचि रंजित अंग।
बीना पुस्तक-धारिनी, राजहंस-सुत संग ॥ २ ॥
वृषभवाहिनी अंग उर, बासुकि लसत प्रवीन।
सिव सँग सोहै सर्वदा, सिवा कि राय-प्रबीन ॥ ३ ॥

केशव की रुचि पर भी इन परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। परिस्थितियों से ऊपर उठने की सामर्थ्य बहुत कम लोगों में होती है। पर यहाँ तो बात ही दूसरी थी। केशव की अपनी भावनाएँ भी कुछ-कुछ ऐसी ही रही होंगी। उनकी व्यक्तिगत रुचि का पता लोक में प्रसिद्ध उस दोहे से लगता है जिसमें एक कुएँ की पाल पर बैठे हुए वे अपने बुढ़ापे को कोस रहे हैं। दोहे के प्रामाणिक होने में संदेह किया जा सकता है परंतु उसके भीतर जो भावना व्यक्त की गई है वह केशव की ही है इसका प्रमाण उनके ग्रंथों में स्थान-स्थान पर मिलता है। दो चार बार इन्होंने बड़ी कसक से इस बात का वर्णन किया है कि 'परनारी' तपश्चर्या में विघ्न डालनेवाली होती है—

पावक पाप सिखा बड़वारी।
जारति है नर को पर-नारी ॥

रसिक-प्रिया में परकीया नायिकाओं का भेद करते समय लिखते हैं—

परकीया द्वै भाँति पुनि, ऊढ़ा एक अनूढ़।
जिन्हैं देखि बस होत है, संतत मूढ़ अमूढ़ ॥

इस समूह की परिधि के भीतर बहुत से पण्डित भी आ जाते हैं और संभवतः केशवदासजी भी अपने को बहुत बाहर नहीं समझते थे। कहने का सारांश यह कि इसमें संदेह नहीं कि वे एक रसिक जीव थे। उनके स्वभाव की इस रसिकता के होते हुए भी हमको इस बात का भी आभास स्थान-स्थान पर मिलता है कि उनके हृदय के किसी-न-किसी कोने में एक पीड़ा थी जो प्रायः कसका करती थी। संसार के बहुत से लोगों को वैभव के केन्द्रों में प्रतिष्ठित देखकर हम उन्हें इसीलिए सुखी मान लेते हैं कि हमें उनके हृदय के वे कोने देखने को नहीं मिलते जहाँ दुःख के स्रोत निरंतर प्रवाहित होते रहते हैं। केशव भी एक ओर तो सुख में मग्न दिखाई पड़ते हैं दूसरी ओर उनके मुँह से ऐसी उक्तियाँ निकलती हैं—

जग महँ सुःख न गनिए
अथवा
जग माँझ है दुख–जाल,
सुख है कहाँ यहि काल ॥

केशवदासजी का संस्कृत-साहित्य का अध्ययन बहुत विस्तृत था। पांडित्य की परंपरा उनके यहाँ बहुत दिनों से चली आती थी। भाव-प्रकाश नामक वैद्यक-ग्रंथ इनके ही पूर्वज भाऊराम का बनाया हुआ है। ज्योतिष की प्रसिद्ध पुस्तक शीघ्रबोध जो कि इस शास्त्र में प्रवेश करनेवालों के लिए एक अच्छी प्रवेशिका है इनके पिता काशीनाथ मिश्र की बनाई हुई है। कुछ लोगों की सम्मति है कि प्रसन्नराघव के लेखक जयदेव इनके पूर्वज थे परंतु इस विषय में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है। अपने कुल के पांडित्य के विषय में इन्होंने स्वयं लिखा है—

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषा-कवि भो मंदमति, तेहि कुल केशवदास ॥

राज्यसंचालनादि का इनका अनुभव अच्छा था। अतः वे मंत्री के समान माने जाते थे। इसी राज्यसंचालन के सिलसिले में इन्हें राज-

नीतिक दाँव-पेंच का भी बहुत कुछ अनुभव हो गया था और उसका उपयोग इन्होंने अपने प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ रामचंद्रिका में किया। बातचीत की कला में भी केशव बहुत दक्ष रहे होंगे क्योंकि इनके संवादों में बहुत ही वाग्वैदग्ध्य मिलता है।

ये जिस समय उत्पन्न हुए थे उस समय देश में भक्ति का अधिक प्रचार हो रहा था। इन्होंने भी समय के अनुसार भक्तिकाव्य की रचना की। इनके कहने से ज्ञात होता है कि इनके इष्टदेव रामचंद्रजी थे।

मुनिपति यह उपदेश दै, जबहीं भए अदृष्ट।
केशवदास तहीं कह्यो, रामचंद्रजू इष्ट॥

परंतु विष्णु के रामकृष्ण रूपों में इनका किसी के प्रति अधिक आग्रह प्रतीत नहीं होता। रामचंद्रिका में राम-कथा का वर्णन किया गया है परंतु रसिकप्रिया तथा कविप्रिया के उदाहरणों में प्रायः कृष्णकथा का आश्रय ग्रहण किया गया है। कृष्ण के चरित्र को रसिकप्रिया में इन्होंने बहुत गिरा दिया है। सूरदास इत्यादि ने गोपी-कृष्ण-प्रेम पर बहुत कुछ लिखा है परन्तु उन्होंने यह कभी नहीं भुलाया कि कृष्ण भगवान थे। परन्तु रसिक-प्रिया में कृष्ण एक साधारण 'रसिया' के रूप में चित्रित किए गए हैं। रामचंद्रिका भी इस बात का कोई प्रमाण नहीं देती कि केशव के हृदय में भक्त-हृदय की-सी कोमलता तथा आर्द्रता थी। ऐसे तो सभी भगवान के भक्त हैं पर एक भक्त कवि से हम जिस भावुकता की आशा करते हैं वह केशव के ग्रंथों में नहीं मिलती। इसी प्रकार काव्य-रचना करते हुए तथा रमा-शिवा के समान वेश्याओं के सहवास में रहते हुए उन्हें बुढ़ापे ने आ घेरा, जिसे इन्होंने स्वप्न में भी नहीं बुलाया था। विज्ञान-गीता की रचना इन्हीं दिनों में हुई थी जो इस बात का संकेत करती है कि इनके चित्त में वैराग्य का कुछ-कुछ उद्रेक हो रहा था। परंतु यह वैराग्य इन्होंने उस अवस्था में अपनाया होगा जब इनसे कुछ करते-धरते न बना होगा और जब 'बाबा' ऐसे कठोर संबोधन को छोड़ इनसे कोमल बात

कहनेवाला कोई न रहा होगा। बुढ़ापे से ये वास्तव में बहुत दुखी थे और स्थान-स्थान पर जहाँ कहीं बुढ़ापे का वर्णन किया है एक चित्र-सा अंकित कर दिया है। देखिए —

काँपै उर बानि डगै बर डीठि त्वचाऽति कुचै सकुचै मति बेली।
नवै नव ग्रीव थकै गति केसव बालक ते सँग ही सँग खेली॥
लिये सब आधिन-व्याधिन संग जरा जब आवै ज्वरा की सहेली।
भगै सब देह-दसा, जिय साथ रहै दुरि दौरि दुरास अकेली॥

ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों हाथों से आँखें बंद किये संसार को पकड़े बैठे रहे होंगे कि एक रोज अचानक मृत्यु इन्हें घसीटकर ले गई होगी और इनकी पकड़ तभी छूटी होगी जब इनके हाथ शक्ति-रहित हो गए होंगे। दर्शन इत्यादि का अध्ययन होने के कारण यद्यपि इनका ध्यान संसार की अनित्यता के ऊपर भी जाता रहता था परंतु इनमें रसिकता इतनी अधिक थी कि वह वैराग्य इनके हृदय में जम नहीं पाता था और संसार के प्रलोभनों को देख बुढ़ापे में भी इनके मुँह से हाय! निकल जाती थी। ये बार बार 'चेत रे चेत अजहुँ चित चेत' कहकर अपने मन को समझाने का प्रयत्न करते थे पर फिर भी जब कभी ये अपने मकान से बाहर टहलने निकलते थे तो कोई न कोई चंद्रवदनी इन्हें 'बाबा' अवश्य कह देती थी। फिर थोड़ी देर को सुमिरनी इनके हाथ से गिर पड़ती थी और यमलोक का डर भी इनके हृदय से भाग जाता था।

केशव का वृत्तांत समाप्त करने के पहले एक बात की चर्चा कर देना आवश्यक है। कुछ लोग कहते हैं कि सतसई के प्रसिद्ध कवि बिहारीलाल केशवदासजी के ही आत्मज थे। इस विषय में प्रमाण के लिये सतसई के दो दोहे भी उपस्थित किये जाते हैं। एक तो वह जहाँ 'पुतरी पातुरराइ' आया है और दूसरा वह जहाँ बिहारी ने अपने पिता का नाम केशवराय होने का संकेत किया है। इसी दूसरे दोहे में बिहारी ने यह लिखा है कि उनकी जन्मभूमि बुंदेलखंड थी। परन्तु अभी तक विद्वानों ने सर्वसंमति से इस पिता-पुत्र के संबंध को स्वीकृत नहीं किया है।

केशव का जीवन-वृत्तांत यहीं समाप्त होता है। परंतु ओरछे के एक सोनार का वर्णन उन्होंने स्थान-स्थान पर किया है अतः उसका भी नामोल्लेख कर देना आवश्यक है। इसका नाम पतिराम था। इसे लिखना-पढ़ना तो कुछ आता जाता नहीं था परंतु केशव इत्यादि की संगति से इसे कविता करना आ गया था और जैसा कि प्रायः होता है वह सोने में से चोरी कर लिया करता था। इस क्रिया में वह बहुत दक्ष था। चार चार आदमी उसके ऊपर निगरानी करने के लिए नियुक्त किये जाते थे परंतु चूकता नहीं था। हाथ मार ही लेता था।

बाँचि न आवै लिखि कछू, जानत छाँह न घाम।
अर्थ सोनारी वैदई, करि जानत पतिराम॥ १॥
तुला तोल कसबान बनि, कायथ लिखत अपार।
राख भरत पतिराम पै, सोनो हरति सुनार॥

---

२. ग्रंथ तथा टीकाकार

ग्रंथ

केशवदासजी की लिखी हुई सात पुस्तकें प्राप्त हैं। (१) रामचंद्रिका (२) कविप्रिया (३) रसिकप्रिया (४) विज्ञानगीता (५) रतन-बावनी (६) बीरसिंहदेव-चरित्र (७) जहाँगीर-जस-चंद्रिका। इन सात पुस्तकों के अतिरिक्त लाला भगवानदीनजी ने उनकी तीन और पुस्तकों के विषय में लिखा है परंतु उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि उनमें से दो तो अप्राप्य हैं। वे ये हैं—(१) छंदशास्त्र का कोई एक ग्रंथ (२) राम अलंकृत मंजरी (३) नखशिख। इनमें से तीसरी पुस्तक को लालाजी ने देखा था परंतु उनकी संमति में वह कोई महत्व की पुस्तक नहीं। उपर्युक्त सात पुस्तकों में भी प्रथम चार पुस्तकें ही अधिक प्रसिद्ध हैं।

रामचंद्रिका—यह केशवदासजी की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक है। इसमें

रामकथा बड़े विस्तार से वर्णित है। इसका स्वरूप तो प्रबंध-काव्य का-सा है परंतु कथा का प्रवाह प्रबंध-काव्य के अनुरूप नहीं हुआ। अलंकारों को अनावश्यक महत्व दिया गया है। अतः गंभीर तथा मार्मिक भाव-व्यंजना वैसी न हो पाई। चरित्र-चित्रण इत्यादि में भी त्रुटियाँ रह गई हैं। केशव दरबारी कवि थे। दरबारी रीति नीति का उनको अच्छा अनुभव था। इसी के फलस्वरूप राजसी ठाटबाट, राजनीतिक कूटनीति इत्यादि के वर्णन बहुत ठीक उतरे हैं। दरबारियों का संभाषण-कला पर भी स्वाभाविकतः अच्छा अधिकार रहता है। इसी कारण रामचंद्रिका में संवादों का निर्वाह अच्छा हुआ है। संवादों के प्रसंग में पात्रों की परस्पर मर्यादा इत्यादि का भी ध्यान रखा गया है। इनके-से संवाद कोई प्राचीन कवि नहीं लिख सका। बुंदेलखंड, रुहेलखंड इत्यादि प्रदेशों में इस ग्रंथ का अब भी बहुत प्रचार है। प्राचीन वयोवृद्ध साहित्यिक इस ग्रंथ पर बड़ी धार्मिक श्रद्धा रखते हैं। उनका विश्वास है कि इस ग्रंथ का पाठ करना बहुत ही शुभ है। यह बात तो अब तक देखी जाती है कि इस ग्रंथ का अध्ययन करनेवालों का साहित्य में प्रवेश शीघ्रता से होता है।

कविप्रिया तथा रसिकप्रिया—ये दोनों पुस्तकें क्रम से अलंकार तथा रस पर हैं। केशव के पहिले भी इन विषयों पर ग्रंथ रचे जा चुके थे। परंतु विषय के सम्यक् निरूपण की दृष्टि से इन पुस्तकों का बहुत महत्व नहीं है। संस्कृतसाहित्य में काव्य-रीति पर दो प्रकार की पुस्तकें लिखी गई हैं। कुछ में रस, अलंकार इत्यादि के शास्त्रीय गवेषणा-पूर्ण विवेचन पर ध्यान दिया गया है। काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण इत्यादि ऐसे ही ग्रंथ हैं। दूसरी वे पुस्तकें हैं जिनमें कवियों की सहायता के लिये कुछ शिक्षात्मक विवेचन किया गया है; जैसे कवियों को किन-किन वस्तुओं तथा दृश्यों का वर्णन करना चाहिए, इनका वर्णन करते समय क्या क्या कहना चाहिए, तथा शब्द किस प्रकार के चुनने चाहिएँ, इत्यादि। इस प्रकार की पुस्तकों में काव्य-मीमांसा, काव्य-कल्पलतावृत्ति, अलंकारशेखर

इत्यादि के नाम लिये जा सकते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दूसरी प्रकार की पुस्तकों में आचार्योपयुक्त तर्क-पूर्ण विवेचन को स्थान नहीं दिया गया। इन दोनों प्रकार के ग्रंथों के लक्ष्यों को लेकर कविप्रिया की रचना की गई। इसमें आचार्यत्व की दृष्टि से अलंकारों के विवेचन का भी प्रयत्न किया गया है और कवि-शिक्षा पर भी लिखा गया है। जैसे कवियों के वर्ण्य विषय, विभिन्न रंगों का काव्य में प्रयोग, काव्यदोष इत्यादि। अलंकारों इत्यादि का वर्णन शास्त्रीय ढंग से न हो पाया। लक्षणों की भाषा साफ नहीं है। लक्षणों तथा उदाहरणों का समन्वय नहीं किया गया। परिभाषाएँ स्पष्ट नहीं हैं। रसिकप्रिया में रसों का विवेचन किया गया है। और रसों को तो इसी तरह चलता कर दिया गया है परंतु शृंगाररस के अंग-प्रत्यंग को लेकर—जैसे नायिका भेद, नायक भेद, मान, दूतीकर्म—काव्य के चमत्कार दिखाए गए हैं। और रसों का भी समावेश शृंगार के अंतर्गत करने का प्रयत्न किया गया है। परंतु इसमें कवि को सफलता नहीं मिली। आचार्यत्व की दृष्टि से प्राचीनों में इस ग्रंथ का बहुत पठन-पाठन रहा। इधर कुछ दिनों से ऐसे विषयों से लोगों की रुचि कुछ हट-सी चली है। कुछ भी हो हिंदी-साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि से इन पुस्तकों का बहुत कुछ महत्व है। इन ग्रंथों की भाषा में भी रामचंद्रिका की अपेक्षा अधिक प्रवाह है। कहीं-कहीं सुंदर काव्योचित कल्पना से भी काम लिया गया है।

विज्ञानगीता—यह पुस्तक एक रूपक के रूप में लिखी गई है। इसमें केशव ने अपने दार्शनिक विचार प्रकट किए हैं। पर दर्शन ऐसे शुष्क विषय को काव्योचित ढंग न दिया जा सका। भगवद्गीता का विषय भी बहुत शुष्क है परंतु उसमें हृदय को स्पर्श करनेवाली एक स्निग्धता है। पर विज्ञान में वह बात नहीं। इसमें प्रकट किए हुए दार्शनिक विचार गीता से तत्वतः मिलते-जुलते हैं।

रतन बावनी—यह ५२ छंदों की पुस्तिका है। इसमें कुमार रतन-

सिंह की वीरता का वर्णन है। भाषा ओजपूर्ण तथा विषय के अनुरूप है। वीर रस का परिपाक अच्छा हुआ है।

वीरसिंह देव चरित, जहाँगीर-जस-चन्द्रिका इत्यादि पुस्तकें काव्य की दृष्टि से उच्च कोटि की नहीं हैं।

टीकाकार

प्राचीन पुस्तकों पर प्रायः टीका की आवश्यकता पड़ती है। केशव की भाषा क्लिष्ट समझी जाती है अतः इसपर और भी टीकाओं की आवश्यकता थी। संभवतः सर्वप्रथम सूरति मिश्र ने—जो आगरे के रहनेवाले एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे—कविप्रिया तथा रसिकप्रिया पर टीकाएँ लिखीं। पर अब वे प्राप्त नहीं हैं। इसके बाद सरदार कवि तथा नारायण कवि ने सम्मिलित उद्योग से कविप्रिया तथा रसिकप्रिया की टीकाएँ बनाईं। ये टीकाएँ प्रायः सरदार कवि के नाम से प्रसिद्ध हैं परंतु नारायण कवि का भी इनमें बहुत कुछ हाथ था। इस बात को सरदार कवि ने स्पष्ट लिख दिया है—(कविप्रिया के विषय में)

* भाय नारायन सिष्य सों, कह्यो सुकवि सरदार।
महाराज दीनों हुकुम, करो तिलक सुबिचार॥ १॥
गुरु सिष्य मिलि कै करयो, याको तिलक अनूप।
जो कुछ बिगरयो होय सो, छमियो कविवर भूप॥ २॥

"याको तिलक कविप्रिया के तिलक में हमारे शिष्य नारायण दास कवि हमसों पूँछ के कर चुके याते इहाँ नहीं लिख्यो" अथवा—

"यह कवित्त प्राचीन पुस्तक में नहीं मिलत याते नारायण कवि याको अर्थ नहीं लिख्यो।"

इन सबसे यह सिद्ध है कि कविप्रिया की टीका इन दोनों गुरु-शिष्यों

---

* सरदार कवि महाराज बनारस श्री ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंहजी के दरबार में रहते थे। नारायण कवि सरदार कवि के शिष्य थे। ये दोहे नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित कविप्रिया से लिए गए हैं।

ने मिलकर की। रसिकप्रिया में भी नारायण कवि ने बहुत कुछ सहायता दी थी। रसिकप्रिया की भूमिका से यह स्पष्ट है—

कहुँ कहुँ नारायन कियो, याको तिलक अनूप।
चित्त-वृत्ति दै करि कृपा, मुदित भये सब भूप॥

इन टीकाओं की भाषा खड़ी नहीं है। व्रजभाषा में गद्य का समुचित विकास न हो पाया था। टीकाओं की भाषा बहुत ही शिथिल है। रसिकप्रिया की अपेक्षा कविप्रिया की टीका में अधिक शुद्ध भाषा का प्रयोग किया गया है और प्रश्नोत्तर के द्वारा विषय को स्पष्ट करने का भी प्रयत्न किया गया है। रसिकप्रिया की टीका स्थान-स्थान पर बहुत संक्षिप्त कर दी गई है और बहुत से क्लिष्ट शब्द छोड़ दिए गए हैं। कहीं-कहीं मूल का भाव भी टीकाकार की समझ में नहीं आया। सरदार कवि ने छंदों के अलंकार-निर्णय का कार्य भी किया; पर यह बात स्पष्ट लक्षित हो जाती है कि उनको अलंकारों का समुचित ज्ञान नहीं था। उनकी अलंकारों की व्याख्या इत्यादि से प्रतीत होता है कि वे अलंकारों के तत्त्व को नहीं जानते थे। ऊपर से रटी हुई परिभाषाएँ ही उनके ज्ञान का आधार थीं। एक उदाहरण दे देना उचित होगा। केशव ने एक प्रसिद्ध छंद की व्याख्या करते समय लिखा है—

"इहाँ विषम अलंकार है अनमिलते के संग तैं। नायक प्रौढ़, नायका नवोढ़"। टीकाकार का भाव यह है कि आयु के विचार से नायक-नायिका का जोड़ा नहीं मिलता इसलिये यहाँ विषम अलंकार है। पर विषम अलंकार का आधार आयु का वैषम्य नहीं है। इस प्रकार के बहुतेरे उदाहरण दिए जा सकते हैं। दोनों टीकाओं को मिलाने से निष्कर्ष निकलता है कि कविप्रिया की टीका जिसकी रचना में नारायण कवि का बहुत हाथ था, अधिक प्रौढ़ तथा पाण्डित्यपूर्ण है। इन दोनों टीकाओं से केशव का अध्ययन करनेवालों को बहुमूल्य सहायता प्राप्त होती रही। सरदार कवि ने रामचंद्रिका पर भी एक टीका लिखी थी परंतु वह देखने

में नहीं आई। रामचंद्रिका पर महात्मा जानकीप्रसादजी की टीका है। इसका अभी कुछ दिन पहिले तक बहुत प्रचार था।

पर ये टीकाएँ इधर पुरानी हो चली थीं। इनकी भाषा बहुत प्राचीन तथा शिथिल है। इनकी भाषा को आजकल के लोग मूल से भी अधिक क्लिष्ट पाते हैं। अतः केशव का अध्ययन इधर कुछ दिनों से बंद-सा हो चला था। एक तो केशव कुछ शुष्क पड़ते हैं दूसरे भाषा की क्लिष्टता। इस समय पर लाला भगवानदीनजी ने रामचंद्रिका पर बहुत ही विस्तृत, गंभीर तथा पांडित्यपूर्ण टीका लिखी। इसमें छंदों के अलंकारों का भी निर्णय किया गया है और साथ-साथ आलोचनात्मक टिप्पणियाँ भी दे दी गई हैं। इस टीका ने केशव के अध्ययन-अध्यापन को बहुत सरल कर दिया। कविप्रिया पर भी लालाजी ने एक सुंदर टीका लिखी है। इसमें स्थान-स्थान पर आलोचना की गई है जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। लालाजी का विचार रसिकप्रिया की भी टीका करने का था। पर उनके जीवन-काल में उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी। उनके कुछ शिष्यों ने रसिकप्रिया की टीका प्रस्तुत कर ली है। आशा करते हैं यह टीका भी लालाजी की शैली के अनुरूप ही होगी। लालाजी का साहित्य के और क्षेत्रों में कितना महत्त्व है इस विषय में मतभेद हो सकता है पर यह बात प्रायः सर्वसम्मति से स्वीकृत है कि प्राचीन ग्रंथों की टीका कर लालाजी ने साहित्य का बहुत बड़ा उपकार किया।

---

३. भावव्यंजना

भिन्न-भिन्न समयों में तथा भिन्न-भिन्न देशों में विद्वानों ने काव्य के लक्षण किए हैं परंतु वे लक्षण एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। काव्य की सर्वसंमत व्याख्या न हुई, न हो सकती है। मुख्य कारण यह है कि अपनी व्यक्तिगत रुचि से प्रभावित होकर लोगों ने काव्य के लक्षण किए और इन व्यक्तिगत रुचियों का पोषण सर्वदा समाज की औसत रुचि से होता

आया है। सामाजिक परिस्थितियाँ प्रत्येक देश की तथा एक ही देश की भिन्न-भिन्न कालों में एक-सी नहीं रहीं। अतः काव्य का आदर्श सर्वसंमत न हो सका। जब जीवन में आनंद के अवसर अधिक आते रहते हैं, जब सामाजिक परिस्थितियाँ इतनी अनुकूल होती हैं कि अधिक लोगों के सुख की व्यवस्था की जा सके तो स्वाभाविकतः ऐसे लोगों में रहनेवाले कविगणों के काव्य में इस आनंद का प्रतिबिंब अवश्य प्राप्त होगा और आचार्यगण भी काव्य की परिभाषा 'काव्य आनंद है', 'काव्य सौंदर्य है', 'काव्य मंगल है', इत्यादि से कुछ मिलती-जुलती करेंगे। दूसरी ओर जब किसी समाज में नैराश्य का प्राधान्य हो जाता है, लोगों को चतुर्दिक दुःखपूर्ण स्थितियाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं तो इन सब भावनाओं का प्रभाव उस समय के प्रतिनिधि कवियों के काव्यों में अवश्य पड़ता है। यदि आजकल का कोई कवि भावुकता के आवेश में कुछ इस प्रकार कहे—"वियोगी होगा पहिला कवि, आह से निकला होगा गान"—तो हमें कविता के उद्गम के विषय में यह कल्पना बहुत कुछ इसीलिये समुचित-सी प्रतीत होती है कि हमारे जीवन में निराशा, हतोत्साह इत्यादि का इतना अधिक बाहुल्य है। केशवदास को जिन परिस्थितियों में रहना पड़ा उनके अनुकूल ही उनका काव्य का लक्ष्य रहा होगा। ऐसी अवस्था में काव्य के आधुनिक आदर्शों को लेकर "रामचंद्रिका" इत्यादि ग्रंथों के महत्त्व का निर्णय करते समय चाहे न्याय ही हो परंतु ऐसा निर्णय सहानुभूतिपूर्ण कभी न होगा।

देश में विदेशी शासन ने जड़ जमा ली थी। कहीं-कहीं छोटे-छोटे राजा ज्यों त्यों कर अपनी स्वतंत्र स्थिति को किसी प्रकार बनाए हुए थे। प्रायः इस बात का भय बना रहता था कि कभी न कभी ये राज्य मुगलों के अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत हो जावेंगे। यह स्थिति कला के बहुत अनुकूल नहीं थी।

इंद्रजीत ऐसे ही छोटे-छोटे राजाओं में थे। इन्हीं के यहाँ केशव का पालन-पोषण हुआ था। अपने आश्रय-दाता की रुचि से केशव को बहुत

कुछ प्रभावित होना पड़ा और उनकी अपनी रुचि भी जिस समाज में वे रहते थे उसके बहुत कुछ अनुकूल हो गई होगी। इंद्रजीत ने अपने यहाँ वेश्याओं की एक मंडली एकत्र कर ली थी और अपने लिये लौकिक सुख-संभोग की बहुत कुछ सामग्री संचित कर ली थी। यह समाज वास्तविक रसात्मक काव्य में सहृदयता से मग्न होनेवाला न रहा होगा। काव्यानंद में और जीवन के वास्तविक आनंद के उपभोग में बहुत अंतर है। काव्यानंद हृदय को सहानुभूति की परिधि के विस्तार से प्राप्त होता है। जो मनुष्य दूसरों के सुख-दुःख में सुखी-दुःखी हो सके वह काव्य का रसास्वाद कर सकता है। काव्य में वर्णित भिन्न-भिन्न भावों में मग्न होने से हमें जो आनंद प्राप्त होता है वह वास्तविक उपभोग से प्राप्त होनेवाले आनंद से भिन्न है क्योंकि वास्तविक आनंद तो उन पात्रों को मिला होगा जिनका वर्णन हम काव्य में पाते हैं। पाठक या श्रोता के पास तो यह आनंद छनकर आता है। इसीलिये काव्यानंद को लोकोत्तर आनंद कहा गया है और यह उसी को प्राप्त हो सकता है जिसने अपने हृदय को इतना विशाल कर लिया है कि वह काव्य में वर्णित पात्रों के—चाहे वे पात्र वास्तविक हों चाहे काल्पनिक—सुख-दुःख से प्रभावित हो सके। साहित्य-दर्पणकार की यह संमति है कि इस आनंद का उपभोग करने की क्षमता सबमें नहीं होती। व्याकरण के भरोसे या तर्क-शास्त्र के बल शब्दों और वाक्यों का अर्थ लगा लेना दूसरी बात है और उन शब्दों तथा वाक्यों से व्यक्त किये गये भावों में मग्न होना दूसरी बात।

इंद्रजीत के अखाड़े में विचरण करनेवाले दरबारियों में काव्योचित वैसी सहानुभूति न रही होगी जैसी कि अपेक्षित है। केशव को ऐसे ही लोगों को प्रसन्न करने को काव्य-रचना करनी पड़ी इसीलिये हम उनके काव्यों में वैसी गंभीरता, वैसी भावुकता नहीं पाते। केशव संस्कृत-साहित्य के पंडित अवश्य थे परंतु जिस संस्कृत-साहित्य का उनपर अत्यंत गंभीर प्रभाव पड़ा वह पिछले काल का था।

संस्कृत-साहित्य के वे पतन के दिन थे। भावों की वह गंभीरता, हृदय की वह विशालता जो संस्कृत के पहले के कवियों में मिलती थी, वह इन पिछले कवियों में न रह गई थी। भाव-गंभीरता के स्थान में शाब्दिक चमत्कार तथा अलंकार-योजना के वैचित्र्य को महत्त्व दिया जाने लगा था। संस्कृत के इसी साहित्य से तथा अपने आस-पास की परिस्थितियों से प्रभावित होकर उन्होंने लिखना आरंभ किया। अतः उनके काव्य में अलंकारिक वैचित्र्य को इतना महत्त्व क्यों दिया गया इसका कारण हम सरलता से समझ सकते हैं। परिस्थितियों का प्रभाव होते हुए भी एक श्रेष्ठ कवि अपने व्यक्तित्व को कभी नहीं दबा सकता, परंतु उसमें अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व हो भी तो! केशव की अपनी रुचि भी गंभीरता की ओर उतनी न थी। वे स्वयं भी चमत्कार-विधान को अधिक महत्व देते थे। उनकी चित्तवृत्तियाँ भी गंभीर भावों से अधिक सहानुभूति नहीं रखती थीं। इन सब बातों के फलस्वरूप जैसा काव्य लिखा जा सकता था उसके दर्शन हम केशव के ग्रंथों में स्थान स्थान पर करते हैं।

अलंकारिक विधान के चमत्कार को महत्व देते हुए भी उन्होंने संस्कृत के रीति-ग्रंथों में यह अवश्य पढ़ा था कि कविता में रस होना भी आवश्यक है। परंतु किसी भाव या रस को पाठकों के हृदय में कैसे जगाया जावे, यह केशव नहीं जानते थे। रीति-ग्रंथों के आचार्यों ने यद्यपि यह बताया अवश्य है कि विभाव, अनुभाव तथा संचारियों से रस की निष्पत्ति होती है परंतु उनके कहने का यह भाव कभी नहीं था कि विभाव, अनुभाव, संचारियों तथा रस और भावों में कोई अनिवार्य कार्य-कारण संबंध है और इनकी योजना कर देने मात्र से रस का उद्रेक पाठकों के हृदय में स्वतः हो जावेगा। रसोद्रेक के इन उपकरणों से, इन सामग्रियों से, कवि सहायता अवश्य ले सकते हैं, परंतु स्थान स्थान पर किसी भाव के उद्रेक के लिये जिस विशेष कौशल की आवश्यकता है वह कवि में अवश्य होना चाहिए। संभवतः केशवदासजी यही समझते थे कि विभावादि की योजना मात्र से कविकर्म की इतिश्री हो जाती है।

विभावों की व्याख्या करते समय उन्होंने जो दोहा लिखा है उससे यही ध्वनि निकलती है—

> जिनतें जगत अनेक रस प्रगट होत अनयास।
> तिनसों बिमति विभाव कहि, बरनत केसवदास ॥

विभावों से 'अनायास' यदि रसोद्रेक होने लगता तो कविता करना बहुत सरल व्यवसाय हो गया होता। इसी सिद्धांत को मानकर चलने का यह फल हुआ कि केशवदास जी केवल ठूँस-ठूँसकर विभावादि की योजना ही करते रह गए, वास्तविक रसोद्रेक का कौशल उनमें न आ पाया। उदाहरण के लिये उनका हास्यरस का वर्णन ले लीजिए। हास्यरस के लिए इस बात की आवश्यकता है कि कवि कुछ ऐसी स्थिति उत्पन्न करे जिससे श्रोता या पाठक के हृदय में एक प्रकार की गुदगुदी उठे और उसे हँसी आ जावे। इतना कहने मात्र से कि 'राधा हँसी', 'कृष्ण हँसे' अथवा 'और कोई मनुष्य हँसा', हास्य-रस नहीं हो जाता। परंतु देखिए उनका हास्यरस किस रूप का है—

> आजु सखी हरि तोसों कछू बड़ी बार लौं बात कही रसभीनी।
> मेलि गरे पटुका पुनि केसव हार हिये मनुहार सी कीनी ॥
> मोहिं अचंभो महा सुहृदा कहि चाहि कहा बहु बारन लीनो।
> तैं सिर हाथ दियो उनके उन गाँठि कहा हँसि आँचर दीनी ॥

संभवतः केशव ने समझा होगा कि जहाँ हमने लिखा कि कोई हँसा बस वहाँ पाठक हँसने लगेंगे और हमारा उद्देश्य सफल हो जावेगा। उपर्युक्त पद में, जो हास्यरस के उदाहरण में दिया गया है, शृंगार रस का ही प्राधान्य है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि केशवदास सब रसों को शृंगार के अंतर्गत लाने का उद्योग कर रहे थे अतः यहाँ शृंगार आ जाने से कोई बाधा नहीं। दोष तो वैसे भी नहीं था। शृंगार और हास्यरस कोई विरोधी रस नहीं हैं। इन दोनों की योजना मिश्रतापूर्ण सामंजस्य के साथ एक ही स्थान पर की जा सकती है। आग्नेय पुराण में व्यासजी ने तो यह माना है कि शृंगार ही रस से

हास्यरस की उत्पत्ति होती है। यही दशरूपककार की सम्मति है। व्यास जी ने लिखा है 'शृंगाराज्जायते हासो' परन्तु हास्य रस हो भी तो। केशव के उदाहरण में तो शृंगार हास्य को निगल-सा गया है। एक बात और है। किसी रस का वर्णन करते समय उस रस का नाम आ जाना दोष माना गया है! व्यंजना की सहायता से कवि को पाठकों के हृदयों में किसी भाव या रस का उद्रेक करना चाहिए। रस का नाम लेकर नहीं। यदि मीठी वस्तु बिना नाम बताये हुए भी किसी को दे दी जावे तो चखनेवाले को मीठी ही लगेगी। और यदि 'यह वस्तु मीठी है' यह कहकर किसी चखनेवाले को मिठाई का बोध कराया गया तो इससे यही प्रतीत होता है कि वस्तु में इतनी मिठास नहीं कि चखने वाला उसे स्वयं समझ सके। इसी तरह भाव और रस में भी। हास्यरस के जितने उदाहरण रसिकप्रिया में आये हैं, उन सबमें 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष अवश्य आ गया है और इतना होने पर भी वे पाठकों के हृदयों में एक प्रकार की गुदगुदी उत्पन्न करने में समर्थ न हो पाए। इसी प्रकार और स्थलों पर भी केशव ने भाव या रस का नाम लेकर ही काम चलाना चाहा है। जैसे यहाँ—

मिले जाय बननीन सों जबही श्री रघुराय।
करुना रस अद्भुत भयो, मोपै कह्यो न जाय॥

ऐसा ही उनका वीभत्स रस का चित्रण है। वीभत्स रस की योजना करने में कवि सफल हुआ है यह तभी कहा जा सकता है जब वह अपने पाठकों के हृदयों में किसी वस्तु के प्रति घृणा उत्पन्न करने में सफल हो। परंतु इस घृणा से तिरस्कार या विरक्तिवाली घृणा से भाव नहीं है। कभी-कभी हमें किसी व्यक्ति के आचरण से असंतुष्ट होकर विरक्ति सी हो जाती है जिसे हम घृणा भी कहते हैं। नित्य के जीवन में हम लोगों को कहते सुनते हैं कि हमें उस व्यक्ति से घृणा है अथवा हमें उस वस्तु से घृणा है। पर ऐसे स्थलों पर वीभत्स-रस नहीं हो जाता। केशव ने रसिक-प्रिया में वीभत्स-रस का जो उदाहरण दिया है

उसमें एक स्त्री का वर्णन है जो शपथ करते समय ऐसी बातें कहती है जो कुरुचिपूर्ण हैं। परंतु उनका नाम आ जाने मात्र से—वह भी शपथ रूप में—वीभत्स रस नहीं हो जाता। शृंगार रस तथा वीभत्स रस का परस्पर घोर विरोध है यह ध्यान न रख केशव शृंगार के अंतर्गत वीभत्स लाना चाहते थे। यदि वीभत्स पुष्ट हो जाता तो शृंगार का अभाव हो जाता और यदि शृंगार की ही पुष्ट व्यंजना होती तो वीभत्स को पैर रखने को स्थान न मिलता। केशव के उदाहरण में न तो शृंगार रस आ पाया है, न वीभत्स ही। इस उदाहरण को भावाभास में लिया जावे या भाव-संकर में अथवा केशव की अपरिमार्जित रुचि के नमूने के रूप में:—

माता ही को माँस तोहिं लागतु है मीठो मुख,
पियत पिता को लोहू नैकु न अघाति है।
भैयन के कंठन की काटत न कसकति,
तेरो हियो कैसो है जु काटत सिहाति है॥
जब जब होति भेंट मेरो भट्टू तब तब,
ऐसी सौंहैं दिन राति खाति न अघाति है।
प्रेतिनी पिसाचिनी निसाचरी की जाई है तू
केसवदास की सौं कहु तेरी कौन जाति है॥

केशव के और रसों तथा भावों की व्यंजना कैसी हुई है यह बात देखने के पहिले एक महत्व की बात पर दृष्टि डाल लेना उचित होगा। किसी भी रस अथवा भाव की सामग्री की योजना जब समुचित परिस्थितियों में होती है तभी वहाँ पर वह रस व्यक्त हो पाता है। यदि परिस्थितियों की समीचीनता न हो तो आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव इत्यादि की कैसी भी सुंदर योजना क्यों न की जावे, कवि का कार्य सिद्ध नहीं होता। ऐसे ही कुछ स्थलों पर जहाँ कि उपयुक्त परिस्थितियों की योजना नहीं हो पाती आचार्यों ने रसाभास, भावाभास इत्यादि माना है। ये भावाभास इत्यादि दोष ही हैं। केवल इसलिए नहीं कि आचार्यों ने

इन्हें दोष में गिना है किंतु इसलिये भी कि वे काव्य के उच्च आदर्शों से—जिनके द्वारा काव्य में लोक-मंगल तथा लोक-कल्याण की प्रतिष्ठा होती है—पतित हो जाते हैं। रसाभास, भावाभास के अतिरिक्त भी कभी-कभी ऐसा होता है कि परिस्थितियों की भिन्नता से एक ही सामग्री परस्पर भिन्न रसों तथा भावों को जागरित करती है। एक उदाहरण लीजिये। लोहित नेत्रवाला कोई व्यक्ति जिसकी भुजाएँ फड़क रही हैं, लाल-लाल मुँह किये, उग्र वचन कहता हुआ किसी मनुष्य को पीट रहा है। ऊपरी दृष्टि से देखने से यह सामग्री युद्धवीर अथवा रौद्र रस से कुछ मिलती जुलती है और कुछ देर यदि पीटे जाने वाले व्यक्ति की ओर हम न देखें तो स्यात् हमें यहाँ उपर्युक्त रसों के होने का भ्रम भी हो जावे और यदि मार खानेवाला व्यक्ति कोई उग्र अत्याचारी है जिसने पीटने-वाले के बहुत अनिष्ट किये हैं तो यहाँ पर उपर्युक्त रसों के अतिरिक्त हम और कुछ मान भी नहीं सकते। परंतु यदि हमारे कानों में कोई यह बात डाल दे कि वह पीटनेवाला मार खानेवाले का पुत्र है और अपने पिता को पीट रहा है तो ऐसी अवस्था में—चाहे उस पिता ने कोई अपराध भी किया हो—न वीर रस होगा न रौद्र। आभास हम चाहे इसका मान लें चाहे उसका और चाहे और किसी का। यदि हम यह जान लेवें कि वह मारनेवाला उन अत्याचारियों में से एक है जिसके कारण समाज में भले आदमियों को अनावश्यक कष्ट उठाने पड़ते हैं और वह मार खानेवाला कोई दीन-दुखिया है जिस बेचारे को केवल इसलिये मार खानी पड़ती है कि वह उस अत्याचारी के कुछ दुष्टतापूर्ण प्रस्तावों से अपनी भलमनसी के कारण सहमत होने में असमर्थ रहा तो यहाँ पर रौद्र और वीर रसों का आभास भी न रहेगा। इसके विपरीत हमारे हृदय में दया, करुणा इत्यादि भावों का उद्रेक होगा और ये भाव करुण रस के बहुत कुछ पास पहुँच जावेंगे। इसी प्रकार और रसों में भी हम देख सकते हैं कि अनुभाव, विभाव किसी रस के लिये नि: क नहीं कर दिये गये हैं। भावोद्रेक करने में कवि अपने कौशल

ही से समर्थ हो सकता है। इस प्रकार की व्यर्थ योजना कर देने मात्र से नहीं। केशव ने प्रायः इस बात का विचार नहीं किया और इसका फल यह हुआ कि उनकी भावव्यंजना पर स्थान स्थान पर आघात पहुँचा। इसके उदाहरण उनकी पुस्तकों में से बहुत से दिये जा सकते हैं। परंतु यहाँ पर एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा जो केशव के समर्थकों को भी खटका। भरत एक बड़ी सेना लिये हुए वन में राम से मिलने जा रहे हैं। इस सेना का उल्लेख तो तुलसीदास ने भी किया है—'सेन संग चतुरंग न थोरी'। इस सेना के कारण रामचरितमानस में भी एक बहुत बड़ा अनिष्ट होते होते बच गया। लक्ष्मण ने समझा कि भरत राम का दमन करने को तथा अपना राज्य अकंटक करने को इतनी बड़ी सेना लिये चले आ रहे हैं। लक्ष्मण भरत को दण्ड देने को भी प्रस्तुत होने लगे। पर राम का भरत के चरित्र पर पूर्ण विश्वास था और उन्होंने लक्ष्मण को समझा दिया। 'भरतहिं होइ न राजमद बिधि-हरि-हर-पद पाइ' केशव की 'चंद्रिका' में भरत की सेना का ऐसा वर्णन किया गया है जैसे वे युद्ध ही करने को जा रहे हों। इतना ही नहीं उन्होंने लिखा है:—"युद्ध को आज भरत्थ चढ़े, धुनि दुंदुभि की दसहूँ दिसि धाई" परिस्थितियों की ऐसी उपेक्षा देखकर केशव के प्रति यदि विरक्ति नहीं उत्पन्न होती तो दया अवश्य होती है। प्रतिभा का ऐसा दुरुपयोग शायद ही और कहीं देखने को मिले। लाला भगवानदीनजी को केशव के प्रति अत्यंत प्रेम था। यदि हम चाहें तो कह सकते हैं कि उन्हें केशव पर ममता थी। उनको भी उपर्युक्त वर्णन कुछ न कुछ खटका अवश्य, क्योंकि उन्होंने लिखा है:—

"ऐसे समय में इस वर्णन में ये उत्प्रेक्षाएँ हमें समुचित नहीं जँचतीं। न जाने केशव ने इन्हें क्यों यहाँ स्थान दिया है? इसमें केवल सूखा पांडित्य-प्रदर्शन ही प्रधान है। कैसा समय है और कैसा प्रसंग है। इसका ध्यान कुछ भी नहीं। वास्तविक युद्धस्थल में ऐसा वर्णन उपयुक्त हो सकता था।"

शृंगार रस सब रसों में श्रेष्ठ माना गया है, इसीलिए आचार्यों ने इसे 'रसराज' की उपाधि से विभूषित किया है। वास्तव में मनुष्य ही नहीं सब जीवधारी दांपत्य रति से जितना आकृष्ट होते हैं उतना किसी और भाव से प्रभावित होते नहीं देखे जाते। समाज में ऐसे मनुष्य पाना कठिन नहीं जिन्हें हँसी की बात पर हँसी नहीं आती, करुण से करुण भी दृश्य देखकर जिनका हृदय द्रवीभूत नहीं होता और घोर से घोर अत्याचार देखकर भी आँखें क्रोध से लाल नहीं हो जातीं। कारण इसका यह है कि उनके हृदय की वृत्ति की व्यापकता इतनी तथा ऐसी नहीं है कि वे भिन्न-भिन्न भावों से प्रभावित हो सकें। हम चाहें तो कह सकते हैं कि ऐसे मनुष्यों में मनुष्यता का विकास उतना नहीं हो पाया, चाहे ऊपर से देखने से वे पूर्ण मनुष्य ही प्रतीत होते हों। परन्तु उनका हृदय वैसा नहीं है जैसा होने ही से मनुष्य जाति नीचे के प्राणियों से श्रेष्ठ ठहराई गई है। परंतु ऐसे मनुष्य कम मिलेगें यदि उनका शारीरिक विकास पूर्ण है—जिनपर शृंगार रस का प्रभाव न पड़ता हो। शृंगार रस की इसी प्रभविष्णुता को देखकर इसे 'रसराज' माना गया है। दूसरे हमारे यहाँ के कवियों की दृष्टि मंगल तथा कल्याण की ओर रही जैसा रायबहादुर बाबू श्यामसुंदर दास ने अपनी हिंदी-साहित्य नामक पुस्तक में लिखा है:—

"इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने को रहा है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य—साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनंद में उनके विलीन होने से है।"

शृंगार रस आनंदमय, मंगलमय है इसलिए भी इसे रसराज की उपाधि दी गई है। क्योंकि हमारे यहाँ के सूक्ष्मदर्शी आचार्यों ने समझा कि करुणा, उग्रता, क्रोध इत्यादि भाव मनुष्यों को कितना भी आकृष्ट क्यों

न करें, कवियों का लक्ष्य वास्तव में अपने पाठकों के हृदय में लोकोत्तर आनंद की स्थापना करना ही होना चाहिए। दूसरे रस भी श्रृंगार रस के अंतर्गत इसी दृष्टि से आ जाते हैं कि जीवन में युद्ध इत्यादि के प्रयत्न भी इसीलिए होते हैं कि मनुष्य अपने लिये आनंद की व्यवस्था कर सके और उस आनंद में व्याघात पहुँचानेवालों को शत्रु समझ उनका दमन करने का प्रयत्न किया जाता है। करुणोत्पादक भावों को देखकर हमारा हृदय इसीलिए न द्रवीभूत होता है कि हम देखते हैं कि जीवन में कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं जहाँ मंगल की, सौंदर्य की पूर्ति नहीं हो पाती। इस भाँति जहाँ-जहाँ मंगल का अभाव है वहाँ-वहाँ दूसरे रसों को स्थान मिलता है और जब लौकिक आनंद की उपेक्षा कर चिरस्थायी परमानंद को मनुष्य अपना लक्ष्य बनाते हैं तो वहाँ शांत रस को प्रश्रय मिलता है। बस केवल यह शांतरस ही श्रृंगार की अधिकार सीमा से बाहर-सा प्रतीत होता है। परंतु व्यासदेव ने गोपीकृष्ण के श्रृंगार के ही अंतर्गत ब्रह्मानंद का पर्यवसान कर श्रृंगार रस की सब रसों में श्रेष्ठता प्रतिपादित कर दी।

भवभूति ने यद्यपि एक बार बड़े आवेश में यह घोषणा की कि सब रसों का पर्यवसान करुणा में, करुण रस में होता है परंतु उन्होंने भी 'मालती माधव' नाटक में श्रृंगार का रसराजत्व बड़े कौशल से, बड़ी कला से सिद्ध कर दिखाया। मालती माधव के प्रेम की धारा के अंतर्गत शोक, क्रोध, जुगुप्सा इत्यादि और रसों के भी स्थायी अपने पूर्ण विकास को प्राप्त हुए हैं जो केवल संचारियों की तरह पानी के बुद्बुदों से क्षणस्थायी नहीं हैं किंतु परिस्थितियों के अनुरोध से जिनकी पूर्ण व्यंजना हुई है।

केशव ने भी श्रृंगार रस को अत्यंत महत्व दिया है और सब रसों को इसके अंतर्गत लाने का प्रयत्न भी किया है। रसिक-प्रिया के प्रारंभ में ही उन्होंने कृष्ण के चरित्र में नवों रसों का होना दिखाया है। कृष्ण-चरित्र के बहुमुखी प्रयत्नों में वास्तव में सब रसों की

सामग्री मिल जाती है। एक ओर यशोदा के आंगन में क्रीड़ा करते हुए कृष्ण हमारे हृदय में वात्सल्य भाव जगाते हैं दूसरी ओर कंस का अंगभंग करते हुए अपने को वज्र से भी अधिक कठोर सिद्ध करते हैं। जिन कृष्ण को एक बार गोपियों के प्रणय कलह निपटाने से अवकाश न मिलता था उन्हीं को हम कुरुक्षेत्र के मैदान में बड़ी-बड़ी कठिन राजनीतिक समस्याओं को सुलझाते हुए पाते हैं। जो एक ओर राधा के मान-कलह से क्षुब्ध हो जाते हैं वे ही दूसरी ओर रणांगण में गीता के अनासक्तियोग का उपदेश देते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसे व्यक्ति के चरित्र में किस रस को आश्रय न मिल जायगा। परंतु केशव क्या हिंदी के किसी भी कवि का ध्यान कृष्ण के चरित्र की इस व्यापकता की ओर न गया। वे तो बस गोपाल, गोपीनाथ इत्यादि को ही पकड़कर बैठ गए। केशव ने रसिकप्रिया की प्रस्तावनावाले इस पद से इस बात की ओर संकेत तो किया परंतु अपने काव्य में वे इसका निर्वाह न कर सके:—

> श्री वृषभानु-कुमारि हेतु शृंगार रूप भय।
> बास हास रस हरे, मात-बंधन करुणामय॥
> केसी प्रति अति रौद्र वीर मारो वासासुर।
> भय दावानल पान कियो बीभत्स बकी उर॥
> अति अद्‌भुत बंचि बिरंचिमति सांत संततै सोच चित।
> कहि केसव सेवहु रसिकजन नव रसमै ब्रजराज नित॥

पर आगे चलकर केशव को अपनी इस प्रतिज्ञा का ध्यान न रहा और उन्होंने रति-भाव के ही अंतर्गत सब रसों को लाने का प्रयत्न किया। दूसरे भाव संचारियों के रूप में तो कभी-कभी शृंगार में आ सकते हैं परंतु वे पूर्ण विकाश को कभी नहीं प्राप्त हो सकते। और यदि उन आनेवाले भावों को गंभीरता प्राप्त हो गई तो शृंगार रस वहाँ नहीं रह सकता। संचारियों के रूप में भी आनेवाले भावों में वीर, रौद्र, भयानक और बीभत्स के स्थायी शृंगाररस में नहीं आ सकते क्योंकि इन

उग्रभावों की रति-भाव से कोई मैत्री नहीं। भिन्न-भिन्न आलंबनों का अवलंबन कर एक ही समय इन दो परस्पर विरोधी भावों की—श्रृंगार तथा वीर की—व्यंजना की जा सकती है। परंतु एक ही आलंबन का आश्रय ग्रहण कर ये दोनों विरोधी भाव एक ही समय में उत्कर्ष को कभी प्राप्त नहीं हो सकते। राम के मन में एक ही समय में सीता के अनुराग तथा सीता का अनिष्ट करनेवाले जयंत के प्रति क्रोध हो सकता है परंतु सीता ही के प्रति एक ही समय में क्रोध और अनुराग दोनों नहीं हो सकते। और भिन्न-भिन्न समयों में भी भगवान रामचंद्र के हृदय में सीता के प्रति कुछ क्रोध हो भी जावे तो वह वैसा क्रोध नहीं हो सकता जो युद्धोत्साह अथवा वीर रस का स्थायी हो सके। इन सब बातों की ओर ध्यान न देकर केशव ने अपने पांडित्य तथा प्रतिभा पर आवश्यकता से अधिक भरोसा कर इन सब विरोधी रसों को भी श्रृंगार ही के भीतर घुसेड़ने का प्रयत्न किया। उन रसों की समुचित व्यंजना तो नहीं ही हो पाई, साथ ही उन रसों का आभास आ जाने से श्रृंगार रस की प्रतिष्ठा में भी आघात पहुँचा। इसके उदाहरण रसिकप्रिया में देखे जा सकते हैं। यहाँ एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा। देखिए केशवदासजी की राधिका रतिरण में कैसी वीरता दिखा रही हैं—

गति गजराज साजि, देह की दिपति बाजि,
हावरथ भाव पति राजि चल चाल सों।
लाज साज कुल कानि सोच पोच भय मानि,
भौंहैं धनु तानि बान लोचन बिसाल सों॥
केसौदास मंद हास असि कुच भट भिरे,
भेंट भए प्रतिभट माले नख-जाल सों॥
प्रेम को कवच कसि साहस सहायक लै,
जीति रति-रण आजु मदनगोपाल सों॥

केशव की इस रुचि से क्षुब्ध होकर रस की एक छोटी किंतु मार्मिक पुस्तक 'रस-वाटिका' के लेखक पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीने लिखा है:—

"और कहाँ लौं, शुद्ध वीर रस का उदाहरण भी रतिरण की क्रीड़ा से खाली नहीं है ! धन्य है इस ग्रंथकर्ता के (केशव के) रति-क्रीड़ा-विषयक अनिवार्य प्रेम को ।"

केशव के शृंगाररस के वर्णन पर उनकी अपनी रुचि तथा आस-पास की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है। परिस्थितियों से ऊपर उठने की सामर्थ्य बहुत कम प्रतिभा-संपन्न कवियों में होती है। पर यहाँ तो बात ही दूसरी थी। जैसी परिस्थितियों में वे रहते थे उन्हीं के अनुकूल उनकी अपनी भावनाएँ भी थीं। उनकी व्यक्तिगत रुचि का पता तो लोक में प्रसिद्ध उस प्रचलित दोहे से लगता है जिसमें वे एक कुएँ की पाल पर बैठे हुए अपने बुढ़ापे को कोस रहे हैं। दोहे के प्रामाणिक होने में संदेह किया जा सकता है परंतु उसके द्वारा जो मनोवृत्ति चित्रित की गई है वह केशव की ही है इसका प्रमाण उनके ग्रंथों में स्थान-स्थान पर मिलता है। 'चंद्रिका' के ही उत्तरार्द्ध में ऐसे वर्णन हैं जो इस बात की ओर संकेत करते हैं कि वे परस्त्री के आकर्षण का अवरोध करने में संभवतः बहुत कम समर्थ हो पाते थे।

पावक पाप सिखा बड़ बारी।
जारति है नर को पर नारी॥

तथा रसिक-प्रिया में परकीया नायिकों का विभेद करते समय वे लिखते हैं:—

परकीया द्वै भाँति पुनि, ऊढ़ा एक अनूढ़।
जिन्है देखि बस होत है, संतत मूढ़ अमूढ़॥

इसमें 'अमूढ़' की परिधि के भीतर बहुत से पंडित भी आ जाते हैं और संभवतः केशवदासजी अपने को इससे बहुत बाहर नहीं समझते थे।

दूसरी ओर उनकी परिस्थितियाँ थीं। वे एक विलासी राज-दरबार में रहते थे। उस दरबार में वेश्याओं की संख्या कितनी थी इसका तो ठीक-ठीक पता नहीं लेकिन उनमें जो छः मुख्य थीं उनका वर्णन केशव-

दासजी ने बड़े सम्मान से किया है। संदेहालंकार का आश्रय ले उमा, रमा, ब्रह्माणी के रूप में केशव ने उन्हें देखा है। इन वेश्याओं का महत्त्व उस दरबार में कितना था इसका पता कुछ-कुछ इस बात से लग सकता है कि उनमें से एक के पढ़ाने लिए केशव को अपने एक मुख्य ग्रंथ कविप्रिया की रचना करनी पड़ी। वेश्याओं के संसर्ग में रहनेवाले कवि तथा भावुक राजाओं का शृंगार-विषयक आदर्श कैसा होगा यह सरलतया समझा जा सकता है। संयत तथा व्यंग्यात्मक शृंगारिक उक्तियों से ऐसे समाज का संतोष नहीं हो सकता। कवि को ऐसे स्थानों पर बात बहुत कुछ खोलकर कहनी पड़ेगी, क्योंकि जिस गंभीरता तक पाठक अपने नित्य के जीवन में रहते हैं उससे अधिक गंभीरता अथवा उच्छृंखलता का चित्रण उनके लिये आकर्षक हो सकता है।

केशव ने भी ऐसे समाज को तुष्ट करने के लिए संयम की सीमा को बहुत पीछे छोड़ शृंगार के बहुत ही नग्न चित्र अंकित किए हैं। परकीया नायिका पर शृंगार को आश्रित करना आचार्यों ने एक दोष माना था, परंतु इस दोष से बचने के लिए कृष्ण के चरित्र में पर्याप्त सामग्री मिल सकती थी। लौकिक तथा स्थूल दृष्टि से गोपियाँ यद्यपि परकीया थीं, किंतु जीवब्रह्म के पारमार्थिक प्रेम का प्रतीक होने के कारण गोपी-कृष्ण का प्रेम दोष नहीं माना गया। किंतु भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण के थोड़े से शृंगारिक संकेतों को कविगण इतना विशाल रूप देंगे इसकी कल्पना स्वयं व्यासदेव ने भी न की होगी।

रसिक नायक के रूप में गोपाल की प्रतिष्ठा अपभ्रंश-काल ही में और संभवतः उससे भी कुछ पहले ही हो चुकी थी; और इस पिछले काल में संस्कृत के कवियों ने भी कृष्ण की शृंगारिक लीला का वर्णन बहुत ही खुलकर किया था। गीतगोविंद इत्यादि पुस्तकों में हम कृष्ण को इसी रूप में पाते हैं। परंतु हिंदी में सर्वप्रथम कृष्ण का यह संमान करने का श्रेय केशव को ही प्राप्त है। पीछे आनेवाले कविगण यद्यपि कृष्ण के चरित्र की मधुरता बढ़ाने में समर्थ हुए, परंतु चरित्र की जिस नीची

सतह पर केशवदासजी ने भगवान को प्रतिष्ठित किया। उससे नीचे उन्हें कोई न ले जा सका। संभवतः उससे नीचा स्थान समाज में है ही नहीं। केशव के कृष्ण उस दुश्चरित्र पुरुष के रूप में चित्रित किए गए हैं जो शाम होते ही न जाने किस फिराक में कमर में दुपट्टा बाँध निकल पड़ता है और जिसके कारण भले घर की स्त्रियों को साँस लेने के लिए खिड़कियों में झाँकना भी हराम हो जाता है। नीचे के छंद में देखिए केशव के कृष्ण किस परोपकार के काम में लगे हुए हैं—

जानी आगि लागि वृषभानु के निकट भौन,
दौरि ब्रजवासी चढ़े चहुँ दिसि धाइ कै।
जहाँ तहाँ सोर भारी भीर नर-नारि की,
सब ही को छूटि गई लाज यहि भाइ कै॥
ऐसे मैं कुँवर कान्ह सारी-सुक बाहिर कै,
राधिका जगाई और युवती जगाइ कै।
लोचन बिशाल चारु चिबुक कपोल चूमि,
चंपे की सी माला लाल लीन्हीं उर लाइ कै॥

वृषभानु के पास के घर में आग लग गई है। सब ब्रजवासी दौड़कर वहाँ पहुँच गए। ऐसे उपकार के काम में कृष्ण भी कब पीछे हटनेवाले थे। बिना बुलाए वे भी आग बुझाने को पहुँच गए। कैसी पर-दुःखकातरता है! इसी परोपकार के बीच में एक बात ऐसी हो जाती है जो संयमशील लोगों को चाहे न रुचे, पर इंद्रजीत के अखाड़े में बैठनेवाले केशव के लिए तो काव्य की एक सुंदर सामग्री है। उसी प्रकार देखिए, बड़े भाई बलदेव की वर्षगाँठ के उत्सव में कृष्णचंद्र अतिथियों का कैसा सत्कार रहे हैं—

बल की बरस-गाँठ ताकी राति जागिबे को,
आई ब्रजसुंदरी सँवारि तन सोनो सो।
'केसौदास' भीर भई नंदजू के मंदरनि,
आधौ मध्य ऊरध बचौ न काहू कोनो सो॥

गावति बजावति नचावत नाना रूप करि,
जहाँ तहाँ उमगत आनँद को औनो सो।
साँवरे की सूनी सेज सोवति ही राधिकाजू
सोप मानि साँवरेऊ मानि मन गौनो सो॥

संयत श्रृंगार न तो केशव को स्वयं रुचता रहा होगा, न ओरछे के दरबार में उसका कुछ मूल्य आँका जा सकता था। इसीलिए रामचंद्रिका में सीताराम के प्रेम के वर्णन का प्रयत्न ही उन्होंने नहीं किया है। तुलसी के समान मर्यादा की रक्षा करते हुए संयत रूप से प्रेम का वर्णन करने की सामर्थ्य उनमें न थी। एक आध स्थान पर यदि उन्होंने प्रयत्न भी किया तो वे सीताराम को छोड़ बहुत कुछ राधाकृष्ण की ओर भटक गए। रामचंद्रिका के उत्तरार्द्ध में सीताजी की दासियों को लेकर कुछ करामात दिखाई गई है, जिसपर अधिक मुग्ध हो जाने से कुछ लोगों को यह प्रतीत होने लगा कि यहाँ पर केशव ने तुलसी को मात कर दिया। परंतु वास्तव में तो सीता माता की दासियों के प्रति भी भक्तों के हृदय में पवित्रता की प्रतिष्ठा ही आवश्यक है। वहाँ पर भी जो श्रृंगारिक वर्णन हुआ है वह केवल कला-प्रधान है। उसमें केवल अलंकार की चकाचौंध तथा शब्दों की तोड़मरोड़ की करामात है, हृदय-पक्ष उसमें है ही नहीं। दासियों के एक एक अंग को लेकर उपमा, उत्प्रेक्षा इत्यादि की लड़ी बाँध दी गई है। परंतु इस नखशिख-वर्णन में भी मलिक मोहम्मद जायसी—जो यहाँ की काव्य-परंपरा से बहुत कम परिचित थे—केशव की अपेक्षा अधिक सफल हुए हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस वर्णन में बड़ी सुंदर कल्पना तथा सूझ से काम लिया गया है, परंतु इस कल्पना में कुछ ऐसी बात है कि यह हमारी बुद्धि पर अधिक प्रभाव डालती है, हृदय पर कम। इसलिए उत्तम काव्य की दृष्टि से जिसमें रसात्मकता को अधिक महत्व दिया जाता है, इस वर्णन का कोई अधिक महत्व नहीं। हाँ, चमत्कार का प्राधान्य माननेवालों से यह कहा जा सकता है कि आप लोगों के मनोरंजन की बहुत कुछ सामग्री है।

यदि कुछ संयम से काम लिया गया होता तो केशव अपनी भाव-व्यंजना में अधिक सफल हुए होते। इसमें संदेह नहीं कि उनमें सुंदर कविता करने की सामर्थ्य अवश्य थी, पर जिसे आजकल हम सुंदर ध्वनि-काव्य कह लेंगे, उसका महत्व केशव की दृष्टि में कुछ अधिक नहीं था। वे तो यही समझते थे कि जब तक कोई क्लिष्ट कल्पना न की जावे तब तक काव्य का उद्देश्य ही पूर्ण न होगा।

दासियों की एँड़ियों का वर्णन करते समय उनका ध्यान संभवतः अपनी अलंकार-मंजूषा की ओर न था, इसीलिए वहाँ उन्होंने सुंदर ढंग से लिखा है—

छवानि की छुई न जाति सुभ्र साधु माधुरी।
विलोकि भूलि-भूलि जात चित्त चाल-आतुरी॥

उन एँड़ियों की 'साधु माधुरी' ऐसी है कि नेत्रों से भी उन्हें छूने में संकोच होता है कि कहीं दृष्टि के मैल से वे मैली न हो जावें। चित्त वास्तव में बहुत चंचल है, परंतु एक बार जब वह किसी वस्तु पर मुग्ध हो जाता है तो अपनी सहज चंचलता को छोड़ देता है। इसी बात की ओर सुंदर ढंग से संकेत करते हुए उन एँड़ियों के सौंदर्य का वर्णन किया गया है। एक बार राजमहल की गलसुई का वर्णन करते समय उन्होंने लिखा है—

कुसुम गुलाबन की गलसुई।
बरनि न जाय न नैनन छुई॥

यहाँ पर कवि अपनी नम्रता से कहता है कि उसका वर्णन मुझसे नहीं हो सकता, पर आगे चलकर 'न नैनन छुई' से गलसुई की कैसी सुकुमारता व्यंजित हो रही है। इसी संयम से जहाँ-जहाँ केशव ने काम लिया है वहाँ-वहाँ उनकी भावव्यंजना उच्चकोटि की हुई है। यह संयम सफल कवियों में प्रायः देखने को मिलता है। गंभीर भावों की व्यंजना तथा सुंदर दृश्यों के सौंदय की उद्भावना पांडित्य अथवा दूर की सूझ के भरोसे नहीं की जा सकती, वहाँ तो काव्योचित मार्मिक सांकेतिकता

की आवश्यकता है। यदि कवि इन भावों तथा दृश्यों की ओर कुछ मधुर संकेत ही कर सके तो बहुत है, पर जहाँ कवि बहुत-कुछ कहने के फेर में पड़ते हैं वहाँ वे कुछ नहीं कर पाते और मुख्य प्रसंग को छोड़ ऐसे वायुमंडल में उड़ने लगते हैं जिसका वर्ण्य विषय से कोई सामंजस्य नहीं। कुलीन स्त्रियाँ जब बाहर निकलती हैं तो प्रायः संकोच के कारण दबी-सी जाती हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी कमर लचकती हो। कमर के लचकने का वर्णन प्रायः कवियों ने किया है। संभवतः यह उनकी शृंगारिक भावनाओं के लिए अत्यन्त उद्रेकजनक समझी गई। यह कमर क्यों लचकती है, इसका वर्णन काल्पनिक हेतु उपस्थित कर कवियों ने किया है। कुछ लोगों ने कहा है कि केशों के बोझ से अथवा कुचों के बोझ से कमर बल खाती है, पर केशव इससे बहुत आगे बढ़ गए और उन्होंने ऐसी उद्भावना की जो एक ओर तो वास्तविक ही है, पर दूसरी ओर काल्पनिक भी।

कंचन के भार कुचभारन सकुचभार,
लचकि-लचकि जात कटितट बाल के ॥

वास्तविक तो इसलिए है कि कमर लचकती हुई इसीलिए प्रतीत होती है कि संकोच के कारण बाला सीधे नहीं खड़ी हो पाती और काल्पनिक इसलिए कि संकोच का बोझ यदि होता है तो हृदय पर पड़ता है, शरीर पर नहीं।

एक नायिका का प्रिय परदेश जा रहा है। वह कहना तो यह चाहती है कि मैं तुम्हारे बिना न जी सकूँगी, परंतु इसी बात को कैसे प्रकारांतर से, कैसे काव्योचित ढंग से कह रही है। वह कहती है कि तुम मुझे सोती छोड़कर चले जाना और जब तुम लौट कर आओगे तभी मैं जगूँगी। यदि नायक का बाहर जाना रात्रि भर के लिए ही होता तो उपर्युक्त कथन के वाच्यार्थ में कोई ऐसा विशेष चमत्कार न था। परंतु यह विदेशगमन है, नायक दो-चार दिन में लौटनेवाला नहीं है और नायिका को भी कुम्भकर्णी निद्रा का वरदान प्राप्त नहीं है। ऐसी

अवस्था में उसके कहने का तात्पर्य ध्वनि से वही निकलता है जो ऊपर कहा जा चुका है।

मेरो सौं तुमहिं हरि रहियौ सुखहि सुख,
मोहूँ है तिहारी सौंह रहौं सुख पाए ही।
चले ही बनत जौ तौ चलिए चतुर पीय,
सोवत ही जैयो छाँड़ि जागौंगी आए ही॥

नीचे की व्याजस्तुति देखने में तो नायक की प्रशंसा-सी कर रही है, परंतु व्यंजना से यहाँ सिद्ध होता है कि वह नायक बड़ा निठुर प्रेमी है। व्याजस्तुति इत्यादि अलंकारों का प्रयोग तो बहुत कवियों ने किया है, परंतु उनमें जो व्यंग्य रखना होता है वह इतना स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविक व्याजस्तुति वहाँ नहीं रह जाती। परंतु केशव ने यहाँ पर बड़े स्वाभाविक ढंग से अलंकार का भी निर्वाह किया है और भाव के सौंदर्य की वृद्धि भी—

सीतल हू हीतल तुम्हारे न बसति वह,
तुम न तजत तिल ताको उर ताप-गेहु।
आपनो जो हीरा सो पराए हाथ ब्रजनाथ,
दै कै तौ अकाथ साथ मैन ऐसो मन लेहु॥
एते पै 'केसोदास' तुम्हैं परवाह नहिं,
वाके जक लागी भागी भूख सुख भूल्यो गेहु।
मोंहो मुख मोड़ो छिन छल न छबीले लाल,
ऐसी तौ गँवारिन लौं तुमही निबाहो नेहु॥

एक नायिका का पति परदेश जा रहा है। बेचारी यह नहीं समझ पाती कि उसे चलते समय अपने प्रियतम से किन शब्दों में क्या कहना चाहिए। यह है तो अवश्य संस्कृत के एक प्रसिद्ध श्लोक का भावानुवाद, परंतु ऐसे मँजे रूप में केशव ने भाव को अपनाया है कि यह अनुवाद-सा प्रतीत नहीं होता।

जो हौ कहौ 'रहिए' तौ प्रभुता प्रगट होति,
चलन कहौ तौ हित हानि नाहिं सहनो।
'भावै सो करहु' तौ उदास-भाव प्राननाथ,
'साथ लै चलहु' कैसे लोकलाज बहनो॥
'केसौदास' की सौं तुम सुनहु छबीले लाल,
चले ही बनत जो पै नाहीं राजा रहनो।
तैसियै सिखाओ सीख तुमहीं सुजान पिय,
तुमहीं चलत मोहिं जैसो कछु कहनो॥

एक नायिका बेचारी यदि कभी-कभी कृष्ण की ओर जरा दीठ भी पसारती है तो ब्रज के लोग उसकी ओर उँगली पसारने लगते हैं। भला जब ब्रज के लोग ऐसे बुरे हैं तो भले आदमियों की गुजर वहाँ कैसे हो पाती होगी ?

हँसि बोलत ही जु हँसैं सबके सब, लाज भगावत लोग भगै।
कछु बात चलावत घैरु चलै मन, आनत ही मनमत्थ जगै॥
सखि तू जु कहै सु हुती मन मेरेहु, जानि यहै न हियौ उमगै।
हरि त्यौं टुक डीठि पसारत ही, अँगुरीन पसारन लोग लगै॥

रसिकप्रिया तथा कविप्रिया में बहुत से स्थानों पर बड़ी सुंदर कल्पना से काम लिया गया है, जिससे सूचित होता है कि सच्चे कवियों की दृष्टि केशव को प्राप्त अवश्य थी। पर एक ओर तो वे पांडित्य-प्रदर्शन की रुचि से, जो चमत्कार-विधान ही को काव्य का उद्देश्य समझती थी, लाचार थे, दूसरी ओर उन्हें श्रृंगार के नंगे चित्र अंकित करने में अधिक आनंद मिलता था। इन्हीं कारणों से काव्योचित कल्पना—जिसके लिए बड़े संयम तथा मार्मिकता की आवश्यकता है—उनमें दब-सी जाती थी। श्रृंगार के भद्दे चित्र सुंदर चित्रों के साथ इतने मिले हुए हैं कि सहृदय पाठकों का हृदय पहले ही से क्षुब्ध हो जाता है और वे सुंदर दृश्यों में भी उतने मग्न नहीं हो पाते। परंतु कविप्रिया इत्यादि ग्रंथों में बहुत-कुछ काव्योचित सौंदर्य है, इस बात को पंडित

रामचंद्र शुक्लजी ने भी––जो केशव के अलंकार-विधान से बहुत कुछ असंतुष्ट ही रहते हैं––स्वीकार किया है––'इन ग्रंथों की रचना बहुत प्रौढ़ है, उदाहरणों में बड़ी सुंदर कल्पना से काम लिया गया है और पद-विन्यास बहुत ही अच्छे हैं। इन उदाहृत मुक्तकों में वाग्वैभव के साथ-साथ सरसता भी बहुत कुछ पाई जाती है।'

इनके श्रृंगारिक वर्णनों में उतनी मार्मिकता तथा प्रभविष्णुता नहीं आने पाई इसका कुछ कारण तो यही था कि इनकी दृष्टि क्लिष्ट कल्पना की ओर थी। पर मुख्य कारण यह था कि प्रेम का जो आदर्श इनके सामने था वह उतना ऊँचा नहीं था! सच्चे प्रेम की सुकुमारता को समझने की भी कोमलता संभवतः उनमें न थी। इनकी एक दूती के वचन से इसका बहुत-कुछ पता चल जाता है। वह दूती कृष्णचंद्र के पास एक बाला को लेकर आई है और कह रही है—

> आजु यासों हँसि खेलि बोलि चालि लेहु लाल,
>
> कालिह एक बाल ल्याऊँ काम की कुमारी-सी।

बाल क्या हुई हलवाई की दुकान की गुलाब-जामुन हुई जो खाने में स्वादिष्ट न होने पर फेंकी जा सकती है और उसके स्थान में दूसरी मोल ली जा सकती है। पर प्रेम का यह आदर्श केशव को कहाँ से मिला यह जानने के लिए बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं। उनके संरक्षक इंद्रजीत के अखाड़े की यह नित्य की शिक्षा रही होगी और ऐसी बातें संभवतः वहाँ आए दिन होती रही होंगी। केशव की उन घटनाओं से कितनी सहानुभूति थी, इसका प्रामाणिक इतिहास प्राप्त न होने पर भी हम अंधकार में नहीं हैं। रसिकप्रिया की सुंदर-सुंदर बातें जिस हृदय की उद्भावना हैं उस हृदय की वृत्तियों को हम बहुत-कुछ परख सकते हैं। ऐसी-ऐसी भयानक अभिसारिकाओं के चित्र उन्होंने अंकित किए हैं जिन्हें देखकर प्रेतों और पिशाचों की 'धर्मपत्नियाँ' भी दाँतों तले उँगली दबाती थीं। वे उग्र रूप धारण किए, साँपों को कुचलती हुई काँटों में उलझते हुए वस्त्रों को फाड़ती हुई, पैरों में गड़नेवाले कंकड़ों को

चिंता न करती हुई दौड़ती चली जाती थीं। वास्तव में जब मुसलधार पानी बरस रहा होगा तो ये स्त्रियाँ बड़ा अपूर्व दृश्य उपस्थित करती रही होंगी। पर अभिसार करने के स्थान में ये चंडियाँ यदि झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की सेना में नाम लिखा लें तो उपयोगिता की दृष्टि से अधिक उचित हो। आगे चलकर जो रतिरण मचवाना है उसीके लिए शायद ऐसी चंडियों की उद्भावना की गई हो।

उरझत उरग चँपत चरननि फनि,
देखत विविध निसिचर दिसि चारि के।
गनत न लागत मुसलधार बरसत,
झिल्लीगन घोष निरघोष जल-धारि के॥
जानति न भूषन गिरत पट फाटत तन,
कंटक अटकि उर उरजा उजारि के,
प्रेतन की पूछ नारी कौन पै तैं सीख्यौ यह,
योग कैसौ सार अभिसारि अभिसारके॥

प्रिय की प्राप्ति में बहुत-सी बाधाओं को पारकर यदि सफलता मिलती है तो उस प्रेम का माधुर्य भी बढ़ जाता है और प्रेम की दृष्टि से महत्व भी। प्रयास के द्वारा हृदय की स्नेह-वृत्ति की गंभीरता भी नापी जा सकती है, परंतु इसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि प्रेमी को कुंभकर्ण बना दिया जाय और प्रेमिका को शूर्पणखा। नल द्वारा छोड़ दिए जाने पर दमयंती को भी बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, परंतु कहीं भी उसका चित्र ऐसा उग्र नहीं चित्रित किया गया है कि उसके प्रति हमारे हृदयों में जो सुकुमार भावनाएँ प्रतिष्ठित हैं उन पर आघात पहुँचे। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी अपने उस प्रसिद्ध कवित्त में प्रेममार्ग में पड़नेवाले विघ्नों का सामना करने का चित्रण किया है, परंतु उसमें कुछ अत्युक्ति होते हुए भी अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है।

'पगन मैं छाले परे नाँघिबे को नाले परे
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के।'

शृंगार रस के बाद यदि और कोई ऐसा रस है जिसका जीवन में प्रभाव की दृष्टि से बहुत अधिक विस्तार है तो वह करुण है। आनंद का उच्च आदर्श प्रतिष्ठित कर उसकी ओर अग्रसर होते रहने और अपने पाठकों को अग्रसर करने में कविगण चाहे कितना भी प्रयत्न करें पर यह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि हम अपने जीवन में चतुर्दिक् दुःख तथा शोक से घिरे रहते हैं। श्रेष्ठ कवियों का यह कर्तव्य तो अवश्य नहीं है कि वे इसी दुःख को चित्रित कर हमें उसी में मग्न करते रहें। यह मानते हुए भी कि जीवन पीड़ाओं का क्रीड़ाक्षेत्र है, कवि लोग आनंद की उद्भावना कर एक ओर तो हमें अपने जीवन के दुःखों को सहन करने योग्य बनाते हैं, दूसरी ओर हमें एक आनंद की ओर आकृष्ट किए रहते हैं, जिससे सफल न होते हुए भी हम कभी निराश नहीं होने पाते। फिर भी करुणा का प्रभाव हमारे हृदयों पर अधिक पड़ता है। इसी कारण उन्हीं कवियों को जनता में प्रचार पाने का अधिक अवसर मिला है जिनके शोक तथा पीड़ा के चित्र बड़े गहरे रंगों से अंकित किए गए हैं। रामायण की कथा में शोक के स्थान अनेक हैं। यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि रामायण की कथा चिंता तथा शोक से प्रारंभ होती है और ऐसे करुण दृश्यों में जाकर विलीन हो जाती है जिन्हें हम जीवन-पर्यंत कभी भी भूल नहीं पाते। आनंद की घटनाओं का विकास कहीं भी रामकथा में इतना नहीं हो पाया कि हमारे आँसुओं को सूखने का अवसर मिला हो। यदि कहीं हम क्षणभर को भी रामकथा के आनंद में मग्न हो जाते हैं तो दूसरे ही क्षण हमें उसका प्रायश्चित्त दुःख सागर में गोते लगाकर करना पड़ता है। चारो भाई विवाह करके घर आते हैं। जिनको एक पुत्र का भी मुँह देखने के लाले पड़े थे उन्हें चार पुत्र-रत्न प्राप्त हुए और अब वे चार पुत्र-वधुओं के साथ आए हैं। माता-पिता के आनंद में इन घटनाओं ने न जाने कितना योग दिया होगा। इस आनंद की चरम सीमा पर हम तब पहुँचते हैं जब हमें यह समाचार मिलता है कि रामचंद्र युवराज बनाए जानेवाले हैं। पर रात बीतते-न-बीतते यह आनंद का

दृश्य ऐसे हृदय-विदारक करुण दृश्य में बदल जाता है जैसे दृश्य मानव जीवन के इतिहास में बहुत ही कम होंगे। इस शोक के बाद जब हम वनयात्रा में दोनों भाइयों को सीता के साथ सुख से दिन बिताते हुए देखते हैं तो हम अयोध्या के राजवैभव को भूल जाते हैं। परंतु इस सुख में भी एक ओर तो सीताहरण के द्वारा आघात पहुँचता है, दूसरी ओर लक्ष्मण को शक्ति लगने से राम का ऐसा सहचर छूट जाता है जिसने बाल्यकाल से प्रारंभ कर अब तक दुःख-सुख सब सहते हुए राम के साथ रहने ही में आनन्द माना। उधर राम के वियोग में दुःखी सीता का करुण चित्र है तो कुछ दूर पर नंदिग्राम में भरत हैं जो संपूर्ण धन-संपत्ति से घिरे रहने पर भी कठोर संयम-नियम का पालन करने में ही सुख मान रहे हैं। रावण-वध के बाद सीता को प्राप्त कर जब भरत-मिलाप हो जाता है और भगवान् राजसिंहासन पर आसीन हो जाते हैं तो हम एक बार शांति की साँस लेते हैं और समझते हैं कि रामराज्य का यह सुख हमें चिरकाल तक प्राप्त होता रहेगा। देखते देखते हमें संवाद मिलता है कि सीता फिर वन में निर्वासित कर दी गई। इस रामायण में प्रिय-से-प्रिय व्यक्तियों के द्वारा ही घोर-से-घोर विपत्तियों में फेंक दिए जाने की प्रथा-सी है! नेत्रों की पुतली से प्यारे राम को एक ओर दशरथ निर्वासित करते हैं, दूसरी ओर उन सीता को—जिनके लिये बंदरों की सेना एकत्र कर समुद्र-बंधन, रावण-वध इत्यादि उग्र-से-उग्र प्रयास किए गए—राम निर्वासित करते हैं। यह शोक हमारे हृदय पर आकर फिर सदा के लिए बैठ जाता है। इस प्रकार राम-कथा—जिसमें विद्युत् से क्षणस्थायी सुखों का आभास तो कभी-कभी मिला था—ऐसे हृदय विदीर्ण करनेवाले शोक में विलीन हो जाती है जिसे हृदय रखनेवाले कभी भूल ही नहीं सकते। पर इस करुण कहानी में भी केशव के हृदय को आर्द्र करने की समुचित सामग्री न मिल सकी। केशवदास द्वारा करुण रस की व्यंजना देखने से पहले यदि हम उसके जीवन पर और उनके व्यक्तित्व पर फिर दृष्टि डाल लेवें तो अधिक उचित हो। वे लौकिक सुखभोग में मग्न रहनेवाले संसार के

सुखी जीव थे और उस समय के बड़े-से-बड़े लोगों को सुख की जो सामग्रियाँ प्राप्त रही होंगी उनका उन्हें अभाव न था। संसार के बहुत से लोगों को हम सुखों के केंद्रों में प्रतिष्ठित देख इसीलिए सुखी मान लेते हैं कि हमें उनके हृदय के वे गुप्त कोने देखने को नहीं मिलते जहाँ दुःख के स्रोत निरंतर प्रवाहित होते रहते हैं। केशव भी एक ओर तो सुख में मग्न दिखाई पड़ते हैं, दूसरी ओर उनके मुँह से निकली हुई ऐसी उक्तियाँ—

'जग महँ सुःख न गनिए'

अथवा

'जग माँह है दुःख-जाल, सुख है कहाँ यदि काल।'

इस बात की ओर संकेत करती हैं कि उनके हृदय में भी कहीं न-कहीं एक पीड़ा अवश्य थी जो प्रायः कसका करती थी। परंतु काव्य में उनका आदर्श पीड़ा का अभिव्यंजन करना न था। बात की करामात तथा आलंकारिक चमत्कार को वे काव्य मानते थे, अथवा अपने प्रभुवर के प्रसाद के लिए उन्हें ऐसा करना पड़ता था। केशव की इसी दुरंगी प्रवृत्ति के लक्षण हमें उनकी शोक की व्यंजनावाले स्थलों में मिलते हैं। जब उनकी आँखें अलंकार-वैचित्र्य की ओर लगी रहती हैं तो करुण-से-करुण दृश्य उनके हृदय को पिघला नहीं पाता। रोती हुई सीता को एक ओर छोड़ वे अलंकारों की ओर बहुत दूर तक उड़ते चले जाते हैं, परंतु जहाँ आलंकारिक आवेश से मुक्त हैं वहाँ उन्होंने शोक की पर्याप्त सुंदर व्यंजना की है। प्रथम उनके उन स्थलों को हम जरा देख लेवें जिनके ऊपर उनका ध्यान नहीं गया है। राम लक्ष्मण ऐसे सुकुमार, माता-पिता के लड़ैते, सबके प्रेम के पात्र राजकुमारों के निर्वासन के बाद जब शोक में दशरथ प्राण त्याग देते हैं उस समय अयोध्या की कैसी अवस्था रही होगी। परंतु केशव न तो मृतप्राय दशरथ की ओर देखते हैं और न कौसल्या-सुमित्रा की ओर और न राम-सीता ही की ओर। बस, प्रारंभ कर देते हैं—

"विपिन-मारग राम बिराजहीं ।"

सीता को जब राम की भेजी हुई अँगूठी मिली उस समय उनके चित्त की भिन्न-भिन्न वृत्तियों की उद्भावना उन्होंने नहीं की। 'आँसु अन्हवाय उर लाय मुँदरी लई' इतना कहकर केशव सीता के लिए दिए अलंकारों के उस जमघट में उतर पड़ते हैं जिसमें संदेह, उत्प्रेक्षा, समुच्चय इत्यादि अलंकार अपनी विविध करामातें दिखा रहे हैं। प्रिय की वस्तु में प्रेमी हृदय के लिए कैसा सुकुमार आकर्षण होता है, प्रिय के संबंध से उस निर्जीव वस्तु में भी कैसी सजीवता का अनुभव किया जा सकता है इत्यादि कोई भी बात ऐसी नहीं जिसे केशव ने काव्य के योग्य समझा हो। 'आँसु अन्हवाय' में पूर्वकालिक क्रिया से यह ध्वनि निकलती है कि संभवतः आँसुओं से स्नान कराना कोई संस्कार था जो बहुत आवश्यक माना गया और उसको चटपट कर लेने के बाद सीता एक दूसरे काम में बड़ी तत्परता से लग गईं। यदि यह लिखा जाता कि उस मुद्रिका को देखकर सीता क्यों रोने लगीं तो यह व्यंजना होती कि रोने की क्रिया कुछ देर तो अवश्य चलती रही, परंतु यहाँ यह प्रतीत होता है कि यह कार्य यों ही शीघ्रता से कर डाला गया। 'अन्हवाय' शब्द से जिस शीघ्रता का आभास मिलता है वह इसी शब्द से जो गंभीर व्यंजना हो सकती थी उसी पर आघात पहुँचाता है। यही शब्द बहुत गंभीर हो जाता यदि पूर्वकालिक क्रिया के बदले यहाँ यह लिखा जाता कि वे उसे आँसुओं से 'नहवाने' लगीं। इससे यह प्रतीत होता है कि यह दुःख का प्रवाह कुछ देर तक यों ही प्रवाहित होता रहा। बस, इस संस्कार को कर लेने के बाद सीता निश्चिंत होकर बैठ जाती हैं और कहीं तो शब्दों के विभिन्न अर्थों पर उनका कैसा अधिकार है यह दिखाने लगती हैं, कहीं आलंकारिक योजना के पांडित्य का प्रदर्शन करती हैं। कभी उन्हें वह अँगूठी नारायण के समान दिखाई पड़ने लगती है, कभी पार्वती के समान। कभी उन्हें माया और ब्रह्म के साक्षात् दर्शन होने लगते हैं—

कै नारायन उर मम लसंति, सुभ अंकन ऊपर श्री बसंति।
बर-बिद्या-सी आनंददानि, जुत अष्टापद मन मित्रा मानि॥
जनु माया अक्षर सहित देखि, कै पत्री निश्चय दानि लेखि।
पिय प्रतीहारिनी सी निहारि, श्रीरामोजय उच्चारकारि॥

इसी बीच में सीता के मुँह से एक सुंदर बात निकलती है जो सूक्ति परिधि से कुछ आगे बढ़ भाव-क्षेत्र के द्वार तक पहुँच जाती है। सीता उस अँगूठी को उलाहना देते हुए कहती हैं—

श्री पुर में बन मध्य हौ, तू मग करी अनीति।
कहि मुँदरी अब तियन की, को करिहै परतीति॥

सीता उस अँगूठी को संबोधित कर राम का समाचार पूछ रही हैं। परंतु वह जड़ मुद्रिका क्या बोलती! हनूमान जो यहाँ पर पदार्थ की जड़ता की ओर से ध्यान हटाकर इस बात की सूचना देते हैं कि कुछ दिनों से रामचंद्रजी ने उस अँगूठी से कंकण का काम लेना प्रारंभ कर दिया है और तदनुसार ही अब उसका नवीन नामकरण भी हो गया है, फिर वह अपने पुराने नाम से क्यों बोलने लगी।

तुम पूछति कहि मुद्रिके, मौन होति यहि नाम।
कंकन की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम॥

इस अल्प अलंकार के द्वारा कवि ने सीता-वियोग-जन्य राम की कृशता की ओर संकेत किया है। परंतु अत्युक्ति में इतनी अस्वाभाविकता आ गई है कि अलंकारों की चमक से पाठक की आँखें चौंधिया जाती हैं और वे समुद्र पार बैठे हुए दुबले-पतले राम की ओर देख ही नहीं पातीं। जब सीता का संवाद हनूमानजी राम को सुनाते हैं उस समय कोई ऐसी गंभीर भावव्यंजना तो नहीं की गई है परंतु फिर भी दो एक अलंकारों की ऐसी योजना की गई है जो भावव्यंजना में बहुत कुछ सहायता देती है। राम ने जब सीता की दी हुई चूड़ामणि पाई तो उनके हृदय में कितना आनंद हुआ!

फूलि उठ्यो मन ज्यौं निधि पाई।
मानहुँ अंध सुडीठि सुहाई॥

सीता के वियोग में रामचंद्रजी एक प्रकार से किंकर्त्तव्य-विमूढ़ ही से हो रहे थे। एक ओर तो इसका कारण यह था कि सीता के दुःख से उनकी बुद्धि-वैभव की प्रतिभा स्वभावतः कुछ कुंठित-सी हो गई होगी, दूसरे जबतक सीता का पता न लग जावे तबतक अपने कर्त्तव्य की दिशा को निश्चित ही कैसे कर पा सकते थे। चिंतामणि पाने से एक तो उनको सीता का पता लग गया, इसलिए उनको कर्त्तव्य का मार्ग दिखाई पड़ने लगा; दूसरे, अपनी सीता की भेजी हुई वस्तु है इसलिए भी उन्हें आनंद हुआ। इन दोनों प्रकार के आनंदों की व्यंजना 'अंध सुडीठि सुहाई' द्वारा बड़ी मार्मिकता से की गई है। अंधे को नेत्र से अधिक और कौन वस्तु आनंद दे सकती है? उसमें भी सुडीठि और सुहाई शब्द कैसे सुंदर हैं। देखने का काम तो सभी प्रकार की आँखों से किया जा सकता है परंतु सुहाई में यह भाव है कि नेत्रों की दर्शनशक्ति ही के ऊपर कवि का लक्ष्य नहीं था, उसका ध्यान नेत्रों के सौंदर्य की ओर भी था; कला की ओर भी, उपयोगिता की ओर भी। ऐसी सुंदर आँखों से अंधे को और भी आनंद मिलेगा और उन अप्रस्तुत आँखों को प्रस्तुत कर वर्ण्य विषय में जिस भावोत्कर्ष के विधान की कवि को इच्छा थी उसमें भी वृद्धि होगी—

फूलि उठ्यो मन ज्यौं निधि पाई।
मानहुँ अंध सुडीठि सुहाई॥

इन्हीं सीता की जिस समय अग्नि-परीक्षा होने लगी उस समय आलंकारिक आवेश में केशव ने उत्प्रेक्षा, संदेह इत्यादि का ऐसा ताँता बाँधा कि उनका ध्यान हृदय-पक्ष की ओर से एकदम से हट-सा गया। अग्नि-परीक्षा देते समय सीता के हृदय में क्या क्या भावनाएँ उठती होंगी, लक्ष्मण तथा राम के मन में कौन कौन से विचार आते होंगे, उत्तर भारतवासियों के इस व्यवहार को देखकर बंदरों को और बचे-बचाए

राक्षसों को आश्चर्य होता होगा अथवा करुणा; इन सब बातों की ओर से केशव ने दृष्टि फेर ली और भुजंगप्रयात छंद में बड़े आनंद से कहना प्रारंभ कर दिया—

महादेव के नेत्र की पुत्रिका-सी,
कि संग्राम की भूमि में चंडिका-सी।
मनो रत्नसिंहासनस्था सची है,
किधौं रागिनी राग पूरे रची है॥
गिरापूर में है पयो-देवता-सी,
किधौं कंज की मंजु सोभा प्रकासी।
किधौं पद्मही में सिफाकंद सोहै,
किधौं पद्म के कोष पद्मा बिमोहै॥
कि सिंदूर शैलाग्र में सिद्ध-कन्या,
किधौं पद्मनी सूर संयुक्त धन्या।
सरोजासना है मनो चारु बानी,
जपा पुष्प के मध्य बैठी भवानी॥
किधौं ओषधी-वृंद में रोहिणी-सी,
कि दिग्दाह में देखिए योगिनी-सी।

लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम की सेना में जो शोक व्याप्त हो जाता है और जिसके कारण राम-से धीर पुरुष भी विह्वल हो जाते हैं उसका प्रभाव केशव पर भी इतना पड़ा कि उन्होंने अपनी प्यारी अलंकार-मंजूषा उठाकर अलग रख दी और उस शोक की धारा में स्वयं मग्न हुए, और जैसा कि स्वाभाविक है अपने पाठकों को भी उस दृश्य के बहुत पास पहुँचाकर उसमें मग्न कर दिया।

लछमण राम जहीं अवलोक्यो,
नैनन तें न रह्यो जल रोक्यो।
बारक लछमण मोहिं बिलोको,
मोकहँ प्राण चले तजि रोको॥

हौं सुमिरौं गुन केतिक तेरे,
सोदर पुत्र सहायक मेरे।
बोलि उठौ प्रभु कौ प्रन पारौ,
नातरु होत है मो मुख कारौ॥

राम के हृदय की स्वाभाविक धीरता ने एक बार तो इस हृदय-विदारक शोक के वायुमंडल से ऊपर उठने का प्रयत्न अवश्य किया होगा, परंतु शोक के दबाने के संपूर्ण प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं और आँसुओं की धारा धैर्य के टीलों को तोड़ती हुई आगे उमड़ पड़ती है। जिस भाई ने नवविवाहिता उर्मिला के न जाने कितने दृढ़ प्रेम की उपेक्षा की तथा सुमित्रा ऐसी माँ की गोदी के लाड़ को राम के लिये त्याग दिया तथा क्षणभर को भी दुःख-सुख में जिसने कभी साथ न छोड़ा उसके वियोग ने—उसके ऐसे वियोग ने, जिसमें पुनः संयोग की कौन सी आशा रह गई थी—यदि राम के धैर्य के बाँध को तोड़ दिया तो इसमें कौन सा आश्चर्य? राम पर जब विपत्ति पड़ती थी, लक्ष्मण बिना कहे हुए, बिना बुलाए हुए आगे बढ़ आते थे। आज लक्ष्मण राम को छोड़ कुछ दूर चले गए हैं, परंतु इतनी दूर क्या चले गए होंगे कि राम पर कोई विपत्ति आवे और वे पुकारकर सहायता को कहें तो वे दौड़कर न चले आवें। संभवतः इसी आशय से राम पुकारकर कहते हैं कि मैं तुम्हारे वियोग में मर रहा हूँ, आओ तुम मेरे प्राणों को जाने से रोको। 'मो कहँ प्राण चले तजि रोकौ'। फिर लक्ष्मण के गुणों की ओर ध्यान जाता है, जो भाई होते हुऐ भी पुत्र से अधिक आज्ञाकारी थे, पुत्र-सा व्यवहार करते हुए भी मित्र से अधिक सहायक होते थे; उनके कौन कौन से गुणों का स्मरण किया जाय! 'हौं सुमिरौं गुन केतिक तेरे। सोदर, पुत्र, सहायक मेरे'। लक्ष्मण संभवतः राम को प्रभु कहकर संबोधित किया करते थे, उसी का स्मरणकर राम कहते हैं कि 'बोलि उठौ प्रभु को प्रन पारौ'। सोदर, पुत्र, तथा सहायक के संबंधों का स्मरण दिलाने से यदि लक्ष्मण नहीं बोले तो क्या 'प्रभु' के संबंध का स्मरण दिलाने से भी

लक्ष्मण—जिन्होंने सेवक धर्म का निर्वाह बड़ी कठोरता से किया था—आज न बोलेंगे ! सेवा की इससे बड़ी आवश्यकता कब पड़ी होगी ! संभव है लक्ष्मण के बिना राम ने जो प्रतिज्ञाएँ कर रखी हैं उनको पूरा करने में भी वे समर्थ न हो पावें। संभव है रावण के वध तथा विभीषण को राज्य देने की बातें कोरी बातें ही रह जावें। राम ऐसे पुरुष के लिये ये बातें अवश्य कलंक की हो सकती हैं। इसी का संकेत राम इन शब्दों में करते हैं—'नातरु होत है मो मुख कारो'। राम को कलंक लगे, राम का मुँह काला हो, यह बात भला लक्ष्मण कब सह सकेंगे, इसकी ओर ध्यान ले जाने से लक्ष्मण चाहे कैसी घोर निद्रा में सोए हों, अवश्य उठ बैठेंगे। निकट के स्नेह-संबंधों में देखा जाता है कि जिस नाम से अपने से छोटा अपने बड़े को पुकारता है उसी नाम की याद दिला कठिन परिस्थितियों में स्नेह को उद्दीप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। जब अपने पिता को बप्पा कहनेवाला बालक मचल जाता है। बाप कहता है—"बेटा ! मान जाओ। अरे क्या अपने बप्पा का कहा भी न करोगे ?" मानो 'बप्पा' बाप से कोई ऊँचा दर्जा हो और है भी। बप्पा शब्द में क्रमशः स्नेह के जो संस्कार संनिविष्ट होते आए हैं वे पिता या बाप शब्द में नहीं हैं। उस बालक ने अपने पिता को 'बप्पा' ही रूप में जाना था। प्रेम-जगत की इस गंभीर अनुभूति की ओर भी 'प्रभु' शब्द से बड़ा सुंदर संकेत होता है। 'बोलि उठौ प्रभु को प्रन पारौ'। राम लक्ष्मण के लिये सहोदर, पिता समान और मित्र इन सबसे अधिक 'प्रभु' थे, क्योंकि अपने को सेवक मानते हुए लक्ष्मण इसी नाम से राम को पुकारते थे।

प्रायः ऐसी विपत्ति एक बार उधर रावण पर भी पड़ी थी। मेघनाद-सा वीर पुत्र लक्ष्मण के द्वारा मारा गया था। रावण का कठोर हृदय भी—जो बड़े-बड़े आघातों के सहने में समर्थ होता रहा—आज आर्द्र हो जाता है। मेघनाद कोई ऐसा वैसा पुत्र भी नहीं है। प्रतिपक्षी अथवा प्रतिनायक के ऊपर पड़नेवाली विपत्तियों पर कुछ कवियों ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। कुछ ने उसकी एकदम से उपेक्षा कर दी। परंतु घोर

से घोर शत्रु का भी जब चरम पतन हो जाता है, जब वह अपने किए का फल पा चुकता है, तथा जब वह दीन होकर विपत्तियों से घिर जाता है, तब उसके दुःखों से सहानुभूति प्रकट करना सभ्य-मानवसमाज की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। रावण चाहे कितना दुष्ट रहा हो परंतु यदि आज उसके मेघनाथ-से पुत्र का वध हुआ है तो वह इस समय तो अवश्य पाठकों की सहानुभूति का पात्र है। इसकी उपेक्षा केशव ने भी नहीं की। रावण का भी विलाप देख लिया जावे—

आजु आदित्य जल पवन पावक प्रबल,
चंद आनंदमय त्रास जग को हरौ।
गान किन्नर करौ नृत्य गंधर्व-कुल,
यच्छ विधि लच्छ यच्छ कर्दम धरौ॥
ब्रह्म रुद्रादि दै देव तिहुँ लोक के,
राज को नाथ अभिषेक इंद्रहिं करौ।
आजु सियराम दै लंक कुलदूषणहिं,
यश को जाय सर्वज्ञ विग्रहु वरौ॥

आज रावण इन सबके ऊपर से अपने कठोर प्रभुत्व को हटाने के लिए प्रस्तुत हो गया है। यह सब आयोजन अपने सुख ही के लिए न था। और यदि आज इंद्रजीत मेघनाद-सा प्रतापी पुत्र न रहा तो यह सब सुख-सामग्री के आयोजन किसलिए ? कैसी उदासीनता, कैसी विरक्ति तथा कैसी उपेक्षा की व्यंजना ऊपर के पद से हो रही है। अप्रस्तुतः-प्रशंसा के द्वारा—जिसमें कार्य के द्वारा कारण कहा जाता है-- रावण यह बात कहना चाहता है कि मेरे भय से अबतक जिन कार्यों को लोग स्वतंत्रतापूर्वक न कर पाते थे उन्हें अब करें। अब उन्हें रोकने की मेरी इच्छा नहीं अथवा पुत्र-शोक में मैं मर जाऊँगा तो कोई विघ्न डालनेवाला ही न रह जावेगा और बंधन में पड़े देवगण स्वयं मुक्त हो जावेंगे।

बहुत गंभीर भावों के पास पहुँचकर कवि को इसका अनुभव होता है कि भाषा की सांकेतिकता में इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह भावों को

गंभीरता का चित्रण कर सके इसीलिए आचार्यों ने शब्दों की लक्षणा तथा व्यंजना शक्तियों की उद्भावना की। अथवा यह कह सकते हैं कि शब्दों की कुछ विशेष विशेष सामर्थ्यों का लक्षणा व्यंजना इत्यादि नाम करण किया। वास्तविक बात तो यह है कि कवियों ने शब्दों की लक्ष्य, व्यंग्य, सांकेतिकता का आविष्कार किया और आचार्यों ने लक्षणा, व्यंजना इत्यादि नामकरण। व्यंजना के द्वारा कवि कुछ ऐसी युक्तियाँ निकालता है जिनके बल पर वह किसी न किसी प्रकार गंभीर-से-गंभीर भावों तक पाठकों को पहुँचा देता है। इन युक्तियों में से एक युक्ति संयम की है। कवि शब्दों के अपव्यय में न पड़ भावों की उच्च भूमि की ओर उँगली उठाकर कुछ मधुर संकेत कर देता है। केशव में इतनी सरलता न थी कि वे इस काव्योचित ढंग को अपनाते। परंतु फिर भी कुछ स्थान ऐसे अवश्य हैं जहाँ उन्होंने इस युक्ति से काम लिया है। जब विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को लेकर चले जाते हैं तो दसरथ की अवस्था का वर्णन उन्होंने इन शब्दों में किया है--

राम चलत नृप के जुग लोचन,
बारि-भरित भे बारिद रोचन।
पायन परि ऋषि के सजि मौनहिं,
केसव उठि गये भीतर भौनहिं॥

दसरथ के मौन द्वारा उनके हृदय की गंभीर पीड़ा का आभास मिलता है। उनके द्वारा दुःख की विस्तृत व्याख्या कराने से वह बात न आने पाती जो यहाँ केवल मौन रहने ने कर दी। उठकर भवन में चले जाने का यह भाव है कि दुःख का उद्वेग इतना अधिक हो गया कि उन्होंने दरबार में अपना बैठा रहना उचित न समझा। यहाँ पर केशव ने न तो अलंकारों के चमत्कार दिखाने का प्रयत्न किया है, न वे शब्दों की करामात के फेर में पड़े हैं। थोड़ी सी सार्थक रेखाओं से कैसा गंभीर चित्र अंकित किया गया है जिसमें दशरथ के हृदय का कोना कोना साफ दिखाई पड़ता है। जिस समय चित्रकूट में रामचंद्र ने अपनी माताओं

से पिता का कुशल-समाचार पूछा उस समय केशव ने बड़ी मार्मिकता से काम लिया है—

तब पूछियो रघुराइ, सुख है पिता तन माइ।
तब पुत्र को मुख जोइ, क्रम तें उठीं सब रोइ॥

माताओं के द्वारा यदि कुछ शब्दों का प्रयोग कराया गया होता तो वे शब्द अपनी अपनी शक्ति के अनुसार दुःख की एक सीमित रूप में व्यंजना कर पाते। परंतु एक ओर संयम से काम ले दूसरी ओर जीवन के मर्मस्पर्शी दृश्यों का जो परिचय केशव को था उसका सहारा ले बड़ी भावुकता से उन्होंने शोक की गंभीर अभिव्यक्ति की है।

प्रताप, ऐश्वर्य, वीरता, आतंक इत्यादि का वर्णन करने में केशवदासजी बहुत ही सफल हुए हैं। इन भावों की अनुभूति का अवसर उनको अवश्य ही मिलता रहा होगा। जब तक कवि विषय से साक्षात् संबंध स्थापित न करे तब तक उसका चित्रण सत्यता तथा वास्तविकता की दृष्टि से ठीक नहीं उतर सकता। केवल कल्पना के भरोसे कवि कितनी दूर तक जा सकता है। अनुभव के अतिरिक्त कवि को विषय से सहानुभूति होने की भी आवश्यकता है। जिसे किसी विशिष्ट भाव में मग्न होने में स्वयं आनंद नहीं मिलता वह उसका वर्णन करने में कहाँ तक सफल हो सकता है। जिनके स्वभाव में सरलता तथा नम्रता भरी हुई है वे रण की भीषणता का चित्र कैसे अंकित कर सकते हैं? जिन्हें राज-दरबारों के वैभव तथा शिष्टता का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त नहीं वे उसका वर्णन क्या करेंगे? युद्ध-वर्णन के दो अवसर रामचंद्रिका में आए हैं। प्रथम अवसर राम-रावण के युद्ध का है। दूसरा राम की सेना और कुश-लव के युद्ध का। रतनबावनी नाम के एक छोटे से ग्रंथ का विषय ही युद्ध है। प्रबंध-काव्य में कवि के लिए यह आवश्यक होता है कि वह कथा के प्रवाह-द्वारा अपने पाठकों को किसी भाव में मग्न होने के लिये प्रस्तुत करता रहे। परिस्थितियों के अनुरोध के बिना जब कोई भाव सहसा पाठकों के संमुख आकर खड़ा हो जाता है तो पाठक उसे ग्रहण करने में उतना समर्थ नहीं हो

पाते। इसी बात की कमी का अनुभव राम-रावण युद्ध में होता है। रावण के दो रूप हैं। सीता को चुराने की दृष्टि से वह राम का व्यक्तिगत शत्रु है तथा ऋषियों, देवताओं और ब्राह्मणों का दमन करने की दृष्टि से वह लोक का शत्रु है। राम लोक-मंगल के लिये अवतीर्ण हुए, अतः लोक में विघ्न उपस्थित करनेवाले रावण के प्रतिद्वंद्वी होकर वे लोक के प्रतिनिधि हो जाते हैं। सीता-हरण की बात तो बहुत पीछे पड़ जाती है। केवल सीता के पुनः प्राप्त करने के लिए ही यह इतना बड़ा प्रयास नहीं किया गया था। ऋषियों की अस्थियों के जो ढेर भगवान् रामचंद्र ने देखे थे उनसे उद्विग्न तथा क्षुब्ध हो भुजाएँ उठाकर निश्चरहीन पृथ्वी करने की जो प्रतिज्ञा की गई थी उसको पूर्ण करने के लिये भी रावण-युद्ध एक स्वाभाविक घटना है। यदि सीता-हरण न भी होता तो इस प्रतिज्ञा की पूर्त्ति के लिये ही वह भीषण युद्ध तो हुआ ही होता। इस युद्ध की यही एक विशिष्टता है जो इसे व्यक्तित्व के क्षेत्र से हटाकर बहुत दूर तक के मनुष्यों के हृदयों से इसका सामंजस्य स्थापित करती है। जब राम विजयी होते हैं तो इसका हर्ष केवल बंदरों की सेना ही को नहीं होता, पृथ्वी मंडल में सर्वत्र आनंद छा जाता है। पृथ्वी ही क्यों, स्वर्ग इत्यादि के देवता भी हर्षोद्रेक में नाच उठते हैं। राम-रावण के युद्ध को इस एक मुख्य बात की ओर केशव का ध्यान नहीं गया। रावण का रामचंद्रिका में यदि कोई बड़ा अपराध है तो यही सीताहरणवाला। राम भी बस सीता के उद्धार के लिये ही प्रयत्न करते प्रतीत होते हैं। इसलिये इस युद्ध का बहुत कुछ प्रभाव कम हो गया है।

अब हम उनके युद्ध इत्यादि के वर्णनों पर आते हैं। कुंभकर्ण मेघनाद इत्यादि जब रणभूमि में प्रवेश करते हैं तो उनका ऐसा उग्र वर्णन किया जाता है जिससे एक भयंकर युद्ध का पूर्वाभास हमें पहले ही मिल जाता है। जब मकराक्ष आता हुआ दिखाई पड़ता है तो विभीषण राम को सचेत करते हुए कहते हैं—

कोदंड हाथ रघुनाथ सँभारि लीजै,
भागे सबै समर यूथप दृष्टि कीजै।
बेटा बलिष्ठ खर को मकराक्ष आयो,
संहार काल जनु काल-कराल धायो॥

रामचंद्रजी के हाथ में धनुष-बाण तो पहले ही से था इसलिए 'कोदंड हाथ रघुनाथ सँभारि लीजै' से मकराक्ष की भयानकता तथा प्रताप की कैसी सुंदर व्यंजना है। 'भागे सबै समर यूथप दृष्टि कीजै' से एक चित्र-सा खड़ा हो जाता है। 'दृष्टि कीजै' से ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं पास ही में होनेवाले युद्ध की ओर सहसा कवि पाठकों को आकृष्ट कर रहा है। जब सेनापति ही भाग चले होंगे उस समय सेना की क्या अवस्था रही होगी। जिस योधा के रणांगण में प्रवेश करते ही शत्रु-दल में ऐसी खलबली मच जाती है, उससे लोहा लेना तो और भी भयानक रहा होगा। जब मकराक्ष से रणभूमि में जाने का प्रस्ताव किया जाता है तो वह बड़े विश्वासपूर्वक रावण को धैर्य दिलाता है और कहता है कि मैं अभी विजय प्राप्त किए आता हूँ और अब हम अपनी राजधानी अयोध्या में बनावेंगे। वह यह भी कहता है कि मेरे सामने ये तुम्हारे कुंभकरण और मेघनाद क्या हैं? एक को सोने से अवकाश नहीं, दूसरे में कुछ भी साहस नहीं—

कहा कुंभकर्नौं कहा इंद्रजीतौ,
करै सोइबौ वा करै युद्ध भीतौ।
तु जौ लौं जियौं हौ सदा दास तेरो,
सिया को सकै लै सुनौ मंत्र मेरो॥
हनौं राम स्यौ बंधु सुग्रीव मारौं,
अयोध्याहि लै राजधानी सुधारौं।

परन्तु यह भीषण योधा रणभूमि में पहुँचता है तो भीषण घमासान का वर्णन केशव ने उतने उग्र रूप से नहीं किया। भीषण युद्ध का वर्णन कुछ तो उग्र शब्दों की योजना से कविगण करते हैं और कुछ उस

भीषणता का चित्र संमुख उपस्थित कर। केवल इस प्रकार वर्णन कर देने से कि उसने इतनी बार बाण से मारा तथा उसने उसको इतनी बार तलवार अथवा और किसी अस्त्र-शस्त्र से मारा, युद्ध की भीषणता का अनुभव पाठक नहीं कर पाते। केशव के राम-रावण युद्ध में यह एक बड़ी त्रुटि रह गई कि वे युद्ध की भयानक परिस्थितियों की व्यंजना न कर सके। परंतु आगे चलकर 'चंद्रिका' के उत्तरार्द्ध में लवकुश-युद्ध ने इस कमी को पूरा कर दिया। यद्यपि वहाँ भी उग्र पदावली की योजना के द्वारा हमारी श्रवणेंद्रिय पर प्रभाव डाल, छपाछप तलवारें चलने का चित्र उपस्थित नहीं किया गया है। परंतु परस्पर उग्र वचन कहने से, बड़ी दृढ़ता से युद्ध-संचालन करने से, तथा रक्त के प्रवाह का चित्र उपस्थित करने से, वह वर्णन पर्याप्त ठीक उतरा है और युद्ध-वीर तथा रौद्र दोनों रसों की मैत्रीपूर्ण योजना बहुत ही सफलतापूर्वक की गई है।

उग्र शब्दों की योजना की कमी का जो अनुभव हम रामचंद्रिका के दोनों युद्धों में करते हैं वह भी 'रतनबावनी' में बहुत ही उपयुक्त कर्णकटु तथा ओजस्वी शब्दों की योजना के द्वारा दूर कर दी गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन उग्र भावों की व्यंजना के लिए जितने प्रकार हमारे साहित्य में प्रचलित थे उन सब पर केशव का पूर्ण अधिकार था।

लव-कुश-युद्ध में उन बालकों की उस छोटी सी अवस्था में वह उग्र पुरुषार्थ हमारे हृदयों में अद्‌भुत सहानुभूति उत्पन्न करता है, और हम उतनी देर को तो अवश्य राम की सेना से निकल लव-कुश की ओर जा खड़े होते हैं। छोटा सा लव जब ऐसे शब्द कहता है—

एक यहै घटि है अरि घेरे,
नाहिन हाथ सरासन मेरे।

तो हमारे हृदयों में कैसा उत्साह भर जाता है। एक ओर चारों ओर से गरजती हुई राम की घोर सेना है, एक ओर ये बालक जो प्रहार करने की अपेक्षा लाड़ ही करने के अधिक उपयुक्त हैं। शत्रुघ्न ने जाते ही जब लव के ऊपर तीन बाण छोड़े तो उसने हँसकर कहा कि तुम

मेरे शरीर की पूजा की है अथवा प्रहार किया है। अच्छा! यह तो बताओ कि तुमने जो शत्रुघ्न नाम लिया है वह क्यों? कितने शत्रुओं को तुम अब तक मार चुके हो?

राम-बंधुबान तीन छाँड़ियो त्रिसूल से।
भाल में बिसाल ताहि लागियो ते फूल से॥
घात कीन्ह राज तात गात तै कि पूजियो।
कौन शत्रु तू हत्यो जु नाम सत्रुहा लियो॥

लव की जिस प्रवृत्ति के दर्शन हमें अंतिम पंक्ति में होते हैं वह उनके स्वभाव की एक विशेषता है जो बराबर चलती रहती है। वे छोटे-छोटे बालक शत्रुओं के शरीर ही पर आघात नहीं करते, कटूक्तियों के द्वारा हृदय पर भी वार करते चलते हैं। इन कटूक्तियों की नोक और भी तीक्ष्ण हो जाने का कारण यह है कि वे प्रायः सत्य होती हैं। दो आँखोंवाले को काना कहने से उसे उतनी पीड़ा नहीं होती जितनी काने को काना कहने से होती होगी। जब विभीषण अपनी प्रौढ़ावस्था पर ध्यान न दे उन कोमल बालकों के आगे युद्ध करने को आते हैं तो उनका स्वागत इन शब्दों में होता है—

आउ बिभीषन तू रन दूषन। एक तुही कुल को निज भूषन॥
जूझ जुरे जो भगे भय जी के। सत्रुहिं आनि मिले तुम नीके॥
देवबधू जबहीं हरि ल्यायो। क्यों तबहीं तजि ताहि न आयो॥
यों अपने जिय के डर आयो। छुद्र सबै कुल-छिद्र बतायो॥
को जानै कै बार तू, कही न ह्वै है माय।
सोई तैं पत्नी करी, सुन, पापिन के राय॥

अंगद को भी ऐसा ही सत्कार प्राप्त होता है—

अंगद जो तुम पै बल होतो। तो वह सूरज को सुत कोतो।
देखत ही जननी जु तिहारी। वा सँग सोवत ज्यों बरनारी॥

अब इन बालकों के युद्ध को भी कुछ पास चलकर देख लिया जावे -

लै धनु-बान बली तब धायौ । पल्लव ज्यों दल मारि उड़ायौ ॥
यों दोउ सोदर सैन सँहारैं । ज्यौं बन पावक पौन बिहारैं ॥
युथ्थप यूथ यों मारि भगायौ । बात बड़ी जनु मेघ उड़ायौ ॥

इसका कुछ और भी भीषण रूप यहाँ देखिये—

अति रोष रसे कुस केसव श्री रघुनायक सौं रनरीति रचैं ॥
तेहि बार न बार भई बहु बारन खर्ग हने, न गिनै बिरचैं ॥
तहँ कुंभ फटैं गजमोति कटैं ते चले बहि शोनित रोचि रचैं ॥
परिपूरन पूरि पनारन सौं जनु पीक कपूरन की किरचैं ॥

रणभूमि का वर्णन कभी-कभी कविगण नदी के साथ सांगरूपक बाँधकर करते हैं। केशवदासजी ने भी उसका वर्णन बड़े सुंदर ढंग से रूपक की योजना पर किया है। सांगरूपक में कहीं-कहीं तो शब्दों के ही सहारे अर्थ का चमत्कार लाना पड़ता है, और लंबे सांगरूपकों में प्रायः कविगण सफल नहीं हो पाते। प्रस्तुत अप्रस्तुत के बीच बिंब-प्रतिबिंब भाव की रक्षा कोई भी कवि बहुत दूर तक कैसे कर सकता है? परंतु फिर भी केशव का यह रूपक बहुत कुछ ठीक उतरा है—

पुंज कुंजर सुभ्र स्यंदन सोभिजे सुठि सूर।
ठेलि-ठेलि चले गिरीसनि पेलि सोनित पूर ॥
ग्राह तुंग तुरंग कच्छप चारु चर्म बिसाल।
चक्र से रथचक्र पैरत बृद्ध गृद्ध मराल ॥
केकरे कर बाहु मीन गयंद सुंड भुजंग।
चीर चौंर सुदेस केस सिवाल जानि सुरंग ॥
बालुका बहु भाँति हैं मनिमाल जाल प्रकास।
पैरि पार भये ते द्वै मुनिबाल केसवदास ॥

रतन-बावनी में रतनसिंह के युद्ध का वर्णन करते समय अपभ्रंश काल की प्रथा के अनुसार ओज लाने के लिये प्राकृत रूपों का प्रयोग भी किया गया है। यह कवियों की प्रथा-सी हो गई थी। चंदबरदाई से लेकर सब कवि इसका निर्वाह करते आए हैं। तुलसीदासजी ने भी

कुछ स्थानों पर इस शैली को अपनाया है। केवल कर्णकटु शब्दों की योजना मात्र से युद्धवीर अथवा रौद्र रस का निर्वाह हो जाता है यह समझना भ्रम ही है और न ऐसे ढंग की पदावली की योजना ऐसे स्थलों पर अनिवार्य ही है। जिन भाषाओं में ऐसे कर्णकटु खड़खड़ाते शब्द नहीं मिलते उनमें क्या वीररस का वर्णन हो ही नहीं पाता? इनकी योजना के बिना भी हिंदी के ही बहुत से कवि उग्र भावों की व्यंजना करने में समर्थ हुए हैं। रत्नाकरजी की ये पंक्तियाँ हिंदी के किस कवि से पीछे पड़ती हैं—

सुनि अति अनहित बैन, भये नृप नैन रिसौंहैं।
फरकि उठे भुजदंड तने तेवर तरजौंहैं॥
कढ़ी परत करवाल कोष सौं चमकि-चमकि कै।
निकसे आवत बान तून सौं तमकि-तमकि कै॥
उठि-उठि कर रहि जात कसकि तिनके वाहन कौ।

फिर भी कर्णकटु शब्दों की योजना से कवि को अपने अभीष्ट भाव को व्यक्त करने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। वीररस का वर्णन हिंदी-साहित्य में बहुत कम हुआ है। हम्मीर-हठ तथा भूषण-ग्रंथावली यही दो एक पुस्तकें उल्लेख्य हैं। सुजान-चरित्र इत्यादि जो पुस्तकें लिखी गई उनमें वह बात न आने पाई। ऐसी अवस्था में रतनबावनी का स्थान हिंदी-साहित्य में अवश्य महत्त्व का है। परंतु इसका वास्तविक युद्धस्थल बहुत छोटा है। संभवतः इसीलिए इसका वैसा प्रचार न हो सका। क्या ही अच्छा होता यदि इसी शक्ति से केशव ने रामचंद्रिका में वीररस की अथवा रौद्ररस की योजना की होती। बावनी की ये पंक्तियाँ तो बहुत ही ओजपूर्ण बन पड़ी हैं—

दीठि पीठि नन फेर पीठ तन इक न दिक्खिय।
फिरहु-फिरहु फिर फिरहु कहत दल सकल उमग्गिय॥
ठान-ठान निज सान मुरकि पाठान जु आए।
काढ़-काढ़ तरवार तरल तातिन तठ भाए॥

इक इक घाउ घल्लिव सबन रतनसेन रनधीर कहँ ।
जनु ग्वाल-बाल होरी हरषि खंडल छोर अहीर कहँ ॥
दोहा—रुपे सूर सामंत रन, लरहिं प्रचारि-प्रचारि ।
चिच्छल पग नहिं चलइ कोउ, जूझत चलहिं अगारि ॥
मरन धीर मन लियौ बीर मधुकर-सुत आयौ ।
बिचल नृपति सब म्लेच्छ देखि दल धर्म लजायौ ॥
कटु कुभष्य सब करिय कुँवर रुप्यहु जुर जंगहि ।
तिल-तिल तन कट्टि इव मुरकि फेरौ नहिं अंगहि ॥
कहि केसव तन बिन सीस ह्वै अतुल पराक्रम कमध किय ।
सोइ रतनसेन मधुसाह सुव तब कृपाण दुहु हत्थ लिय ॥
रजपूत दुट्टि धरनी गहहिं केसव रन तहँ हंकियव ।
सोइ रतनसेन महाराज जू बिकट भट्ट बहु कढ्ढियव ॥

कहीं-कहीं तो एक-एक पंक्ति में इतना ओज, ऐसा वीरोल्लास भरा पड़ा है कि सहसा पाठक भी हृदय में इन्हीं भावों का अनुभव करने लगते हैं। वास्तव में किसी रस अथवा भाव का परिपाक होना तभी कहा जावेगा जब पाठक या श्रोता—कम-से-कम कुछ देर ही को—यह अवश्य भूल जावें कि वे उस दृश्य से बहुत दूर हैं। आचार्यों ने इस सिद्धांत का कि रस की अनुभूति पाठकों को ही होती है प्रतिपादन इसी आधार पर किया कि वास्तविक काव्य में पाठक अपने स्वतंत्र अस्तित्व को भूलकर वर्ण्य विषय से केवल सामंजस्य ही नहीं स्थापित करते, उसमें मिलकर अपने को भी उसी में से एक समझने लगते हैं।

लक्ष्मण विशल्यकर्णी जड़ी के प्रभाव से सहसा उठ खड़े होते हैं। कहाँ चोट लगी थी ? कहाँ पीड़ा थी ? इन सब बातों को विचारने का समय नहीं है। उठते ही उनके मुँह से यही निकलता है कि 'लंकेस न जीवित जाइ घरै', इसी प्रकार जब रावण ऐसे ओजस्वी शब्दों में अपने प्रताप का बखान करता है—

'साल सबै दिग्पालन के कर रावन के करवाल है जौलौं।'

तो हम इसे एक मिथ्याभिमानी व्यक्ति की गर्वोक्ति ही नहीं समझते क्योंकि अभी थोड़ी ही देर हुई रावण के दरवाजे पर प्रतिहारी को बड़े-बड़े लोगों को हम डाँट बताते हुए देख चुके हैं—

पढ़ौ बिरंचि मौन वेद जीव सोर छंडिरे।
कुबेर बेर कै कही न जच्छ-भीर मंडिरे॥
दिनेस जाइ दूर बैठ नारदादि संगहीं।
न बोलु चंद मंद बुद्धि इंद्र की सभा नहीं॥

इसी रावण को कुछ दिन हुए जनकपुर में यह कहते सुन चुके हैं—

संभु कोदंड दै, राज-पुत्री किते,
टूक द्वै तीन कै, जाहुँ लंकाहि लै।

छंद की द्रुतगति तथा भाव से यह प्रतीत होता है कि रावण के लिये उस धनुष को तोड़ देना एक साधारण-सी बात थी। 'टूक द्वै तीन कै' में इसी भाव की व्यंजना होती है कि रावण धनुष के दो अथवा तीन टुकड़े कर देने में कोई अधिक भेद नहीं समझता। आगे चलकर उसे ऐसा लगने लगता है कि संभवतः इस धनुष का उठाना उसके बूते की बात न हो। परंतु वह किसी पर यह प्रकट होने नहीं देता। इस प्रकार से बात टाल देता है—

केसव कोदंड बिसदंड ऐसो खंडै अब,
मेरे भुजदंडन की बड़ीयै बिडंबना।

और वास्तव में जिस रावण ने लीला ही से कैलास पर्वत को उठा लिया था वह धनुष नहीं उठा सकेगा यह कौन मान सकता था!

इसके कुछ देर बाद जब रामचंद्रजी धनुष तोड़ चुकते हैं तो वहाँ कोई एक ऐसा व्यक्ति आता है जिसके मारे उस समाज में बड़ा आतंक छा जाता है और पशुओं तक में खलबली मच जाती है। साधारण हाथियों की तो बात ही क्या मतवाले हाथियों का मतवालापन न जाने कहाँ चला जाता है और कुछ देर के लिये वे चिंघाड़ना भी भूल जाते हैं। कुछ लोग तो यह समझकर कि पुरुष-वेष में इनसे त्राण पाना असं-

भव है स्त्री-वेष धारण करने लगते हैं। बहुत से वीर हथियार फेंक-फेंक कर भागते हैं। वे समझते होंगे कि हथियार रखने से कहीं वीर न समझ लिए जावें। भयानक रस का चित्रण यहाँ बहुत सुंदर हुआ है—

मत्त दंति अमत्त ह्वै गए, देखि देखि न गज्जहीं।
ठौर ठौर सुदेस केसव दुंदुभी नहिं सज्जहीं॥
डारि डारि हथ्यार केसव जीव लै लै भज्जहीं।
काटिकै तनत्रान एकै नारि भेसन सज्जहीं॥

हम रामचंद्रजी को रुद्ररूप में अभी तक नहीं देख पाए हैं। पर जिस समय लक्ष्मण के पास बैठे-बैठे वे विलाप कर रहे थे उस समय किसी के यह कहने पर कि सूर्योदय होने पर लक्ष्मण के जीवित होने की संभावना न रहेगी हम राम को इस प्रकार कहते हुए पाते हैं—

करि आदित्य अदृष्ट नष्ट जम करौं अष्ट बसु।
रुद्रन बोरि समुद्र करौं गंधर्व सर्व पसु॥
बलित अबेर कुबेर बलिहिं देउँ इंद्र अब।
विद्याधरन अविद्य करौं बिन सिद्धि सिद्धि सब॥
निजु होइ दासि दिति की अदिति अनिल अनल मिटि जाइ जल।
सुनि सूरज ! सूरज उदित ही करौं असुर संसार बल॥

जिन देवताओं की रक्षा के लिये भगवान ने अवतार लिया उन्हीं को राक्षसों के हाथ सौंप देने को प्रस्तुत हो जाते हैं। उनके हृदय में शोक का प्रवाह इतने वेग से उमड़ता है कि कुछ देर को तो कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का ध्यान ही उन्हें नहीं रहता। वास्तव में ऐसे घोर शोक के समय भी वे इस रूप से मग्न न हुए होते तो उनके हृदय की मनुष्योचित कोमलता कहाँ रह जाती। तुलसी के राम भी इस शोक के कारण कुछ इस प्रकार कहते हुए सुने गए—

जो जनतेउँ बन बंधुबिछोहू। पिता बचन नहिं मनतेउँ ओहू॥

ऐसी उक्तियों से राम के हृदय के स्वाभाविक शील पर तथा उनकी लोकमर्यादाप्रतिष्ठा पर आघात नहीं पहुँचता। किसी भाव के प्रवाह के

अंतर्गत जब कोई उपभाव आता है तो हमें उस नवागत भाव को मुख्य भाव के साथ सामंजस्य करके ही लेना चाहिए। भावावेश में कही हुई बातों का साधारण रूप में तात्पर्य लगाना बहुत उचित नहीं।

केशव की भाव-व्यंजना का प्रकरण यहाँ समाप्त होता है। जो पद्य स्थान स्थान पर केशव की सुन्दर भाव-व्यंजना के उदाहरण-स्वरूप उद्धृत किए गए हैं वे इस बात का पर्याप्त प्रमाण देते हैं कि कवि में सच्चे कवियों की सी क्षमता अवश्य थी। परंतु वे व्यंजना अथवा ध्वनि को काव्य का महत्वपूर्ण अंग नहीं मानते थे। इसलिए हृदय के गंभीर भावों के उद्घाटन तथा अभिव्यंजन की विशेष आवश्यकता उन्हें प्रतीत नहीं हुई। साहित्य में अलंकारों का स्थान अवश्य है, परंतु जब वे इतनी दूर तक अपने प्रभुत्व का विस्तार करने लगते हैं कि भावों को पैर टेकने के लिये भी कठिनाई से स्थान मिले तो वे काव्य को उच्च आसन से पतित कर देते हैं। भावों की रक्षा करते हुए भी अलंकारों को काव्य में पर्याप्त क्षेत्र मिल सकता है। अलंकार-शास्त्र का ज्ञान न रखनेवाले कबीर, जायसी इत्यादि कवियों में अलंकार स्वयं आ गए हैं। नित्य के जीवन में भी प्रायः देखते हैं अक्षरज्ञान न रखनेवाले मनुष्यों के भाषण में भी अलंकार स्वतः आ जाते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि सौंदर्य की दृष्टि से अलंकारविधान भाषा की एक स्वाभाविक विशेषता है। इस प्रकार की स्वाभाविक अलंकार-योजना यदि केशव में होती तो कुछ अधिक उचित हुआ होता। नीचे की पंक्ति में 'प्रतीप' कैसे भोले ढंग से आया है—

नव नीरज नीर तहाँ सरसैं। सिय के सुभ लोचन-से दरसैं॥

सीता के वियोग में यदि पंपासर के कमल सीता के नेत्रों के समान प्रतीत होते हैं तो इससे राम के हृदय की व्याकुलता, वियोगजन्य खिन्नता तथा गंभीर प्रेम की एक साथ व्यंजना होती है। इस प्रकार के अलंकार जिनसे किसी न किसी भाव की व्यंजना होती है काव्य के लिये भूषण हैं। इसी स्वाभाविक शैली का अनुसरण यदि केशव ने किया होता तो आज

हम उन्हें तुलसी और सूर की पंक्ति में बैठाने में जिस संकोच का अनुभव करते हैं, वह न करते।

अलंकारों के बिना भी स्वाभाविक ढंग की भाषा से बहुत सी सुंदर बातें कही जा सकती हैं। केशव के काव्य में भी ऐसे स्थल मिलते हैं। परंतु उनका इस शैली के प्रति अनुराग न था। राजा दशरथ का जनकपुर में कैसा सत्कार हुआ इस बात को कितने संक्षेप में कैसे सीधे ढंग से केशव ने यहाँ कह दिया—

दसरथ राय यहै जिय जानी। यह वह एक भई रजधानी॥

जनकपुर में भी राजा दशरथ अपने घर ही से सुख का अनुभव करने लगे। यही नहीं जनकपुरी में उन्हें 'अपना घर' ही लगने लगा।

राम के वियोग में व्याकुल भरत को जब हनूमान यह संवाद देते हैं कि भगवान् रामचंद्र सीता और लक्ष्मण के सहित आ रहे हैं तो उन्हें अपने कानों पर विश्वास नहीं होता। वे समझते हैं कि हम कोई स्वप्न देख रहे हैं। दुःख-सागर में मग्न होता हुआ व्यक्ति यदि अचानक अत्यंत सुख की परिस्थितियों में पहुँचा दिया जावे तो उसे कैसे विश्वास हो सकता है। संवाद सुनकर भरत कहते हैं—

यह सत्य किधौं कछु स्वप्न ईस। अब कहा कह्यो मो सन कपीस॥

बाह्य दृश्य चित्रण

इसमें संदेह नहीं कि कविता का मुख्य अंग भाव हैं। आचार्यों ने भावों तथा रसों को काव्य का प्राण ही माना है। भावों का महत्त्व सिद्ध हो जाने पर भी काव्य में और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। भावों की अंतरिक्ष में कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। वे भाव सर्वत्र ही मनुष्यों के आश्रित रहते हैं। इसीलिए काव्य में आए हुए पुरुष तथा स्त्रियों के चरित्र-चित्रण की आवश्यकता पड़ती है। कोई

भी भाव पात्र के उच्च-नीच चरित्र के अनुसार उत्कर्ष तथा अपकर्ष को प्राप्त होता रहता है। यदि कभी दुष्ट पात्र के मुँह से हम नीति-शास्त्र तथा संयम का उपदेश सुनते हैं तो हमें यह संदेह अवश्य होने लगता है कि इस उपदेश के परदे के भीतर न कोई न कोई अनिष्ट अवश्य छिपा हुआ है। इसका कारण यही है कि जिसको हम सदा से दुष्टता करते हुए देखते आए हैं उसके द्वारा उच्च उपदेशात्मक बातें भी हमारे हृदय में श्रद्धा उत्पन्न नहीं करतीं, प्रत्युत उस पात्र के प्रति एक प्रकार की विरक्ति ही उत्पन्न करके रह जाती हैं। किसी भी भाव का प्रभाव पाठकों के हृदय पर उस भाव का उस पात्र के चरित्र के साथ सामंजस्य कर लेने के बाद पड़ता है। जिस प्रकार चरित्रों का परिचय प्राप्त करने की अभिलाषा हमारे हृदय में होती है उसी प्रकार हम यह भी जानना चाहते हैं कि जिनके चरित्र का अध्ययन हम कर रहे हैं उनकी शारीरिक आकृति कैसी थी। जब कभी राणाप्रताप अथवा शिवाजी के विषय में हम पढ़ते हैं तो उनका चित्र न देखे रहने पर भी उनके आकार-प्रकार के विषय में हम एक धारणा-सी बना लेते हैं। इसलिए काव्य में कवि के लिए यह परम आवश्यक है कि वह अपने पात्रों के वाह्य स्वरूप का चित्रण अपने ग्रंथों में करता चले। पात्रों के स्वरूप का चित्रण प्रबंध-काव्य में और भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि वहाँ भावों का उत्कर्ष तथा रसों का गांभीर्य बहुत कुछ कथा की धारा पर निर्भर रहता है। जब तुलसीदासजी के ग्रंथों का हम अध्ययन करते हैं तो हमें यह अनुभव होता है कि इस विषय में उन्होंने बहुत ही सफलता प्राप्त की है। उनके पात्र अपने स्वरूप की भिन्न-भिन्न विशेषताओं के द्वारा हमारे हृदय-चक्षु के संमुख आकर उपस्थित हो जाते हैं। तुलसी के पात्रों का चित्रण इतना सुंदर हुआ है कि उन पात्रों में से किसी को आज भी यदि हम इन आँखों देख पावें तो उन्हें पहचानने में देर न लगेगी। उनके परशुराम, कौशल्या, सीता इत्यादि सब मुख्य-मुख्य पात्र हमारे हृदयों पर चित्र-से अंकित हैं।

केशवदासजी ने भी रामचंद्रिका में बहुत,से पात्रों का प्रवेश कराया है। परंतु न तो उन पात्रों के विशेष चरित्रों का चित्रण हो पाया न उनके वाह्य स्वरूप का। केशव की कल्पना के राम, लक्ष्मण, सीता अथवा और कोई पात्र कैसे रहे होंगे इसका हमको कुछ भी ज्ञान नहीं होने पाता। सीता-स्वयंबर में एक बार परशुराम का वर्णन अवश्य इस रूप से किया गया है कि हमारे सामने उनके आकार-प्रकार का कुछ ठोस स्वरूप आ जाता है—

कुसमुद्रिका समिधैं श्रुवा कुस औ कमंडल को लिये।
कटिमूल श्रौननि तर्कसी भृगुलात-सो दरसै हिये॥
धनु बान तिच्छ कुठार केसव मेखला मृगचर्म स्यों।
रघुबीर को यह देखए रस बीर सात्विक धर्म स्यों॥

'कटिमूल श्रौननि तर्कसी' पढ़ने से हमारा ध्यान परशुराम की कटि से लेकर कानों तक जाता है। उसी प्रकार 'भृगुलात-सो' की 'सो' में इतनी शक्ति है कि हम उनके वक्षस्थल पर की भृगुलता के कुछ अस्पष्ट स्वरूप को भी देख लेते हैं। 'रघुबीर को यह देखिए' पढ़ते ही ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं पास ही में खड़े किसी तेजस्वी पुरुष के विषय में यह प्रश्न किया जा रहा है। पर ऐसे चित्रण केशव में बहुत नहीं है। उनके बहुत कम पात्र अपने वाह्यस्वरूप की छाप हमारे हृदयों पर डाल सके। एक बार राम-रूप के वर्णन करने का प्रयत्न इन्होंने किया था परंतु वहाँ भी वे शब्दालंकारों ही तक रह गए। राम को नीचे से ऊपर तक पीला ही पीला बना डाला है। इससे प्रतीत होता है कि उनको काव्य में चित्र-खचित करने की कला पर बहुत अधिकार न था। चित्रकार की भाँति कवि भी चित्र अंकित करता है। भेद इतना ही है कि चित्रकार के चित्र हमारी नेत्रेंद्रियों के द्वारा हृदय तक पहुँचते हैं और कवि के चित्र सीधे हृदय पर प्रभाव डालते हैं। राम के रूप को देख लीजिए—

पीरी पीरी पाट की पिछौरी कटि केसौदास,
पीरी पीरी पागै पग पीरियै पनहियाँ।

शंकर के स्वरूपचित्रण का आयोजन भी एक बार किया गया परंतु वहाँ भी चमत्कार ने स्वाभाविकता को नष्ट कर दिया और वर्णन बहुत कुछ परंपरानुगत ही हो गया—

उजरे उदार उर बासुकी बिराजमान,
हार के समान आन उपमा न टोहिए।
सोभिजै जटान बीच गंगा जू के जल-बुंद,
कुंद की कली-सी केसोदास मन मोहिए॥
नख की-सी रेखा चंद चंदन-सी चारु रज,
अंजन सिंगार हू गरल रुचि रोहिए।
सब सुख सिद्धि सिवा सो हैं सिवजू के साथ,
जावक सो पावक लिलार लग्यो सोहिए॥

बुढ़ापे का प्रभाव उनके हृदय पर बहुत पड़ा था। जब-जब वृद्ध पुरुष अथवा वृद्धा स्त्रियों के चित्रण का अवसर मिला वे बहुत ही सफल हुए। देखिये सामने अनुसूया देवी बैठी हुई हैं जिनके सारे शरीर में झुर्रियाँ पड़ी हुई हैं और जिनकी गर्दन काँप रही है—

सिर सेत विराजै कीरति राजै जनु केसव तप-बल की।
तन वलित पलित जनु सकल बासना निकरि गई थलथल की॥
काँपति सुभ ग्रीवा सब अँग सींवाँ देखत चित्त भुलाहीं।
जनु अपने मन प्रति यह उपदेसति या जग मैं कछु नाहीं॥

पात्रों के स्वरूप के चित्रण के पश्चात् उनकी परिस्थितियों के चित्रण का प्रश्न आता है। कोई भी पात्र अपने कार्यकलापों का प्रसार पृथ्वी पर कुछ स्थानों पर करता है। इन स्थानों का चित्रण इसलिए आवश्यक है कि इनके बिना प्रथम तो व्यक्तियों के चित्र स्पष्ट नहीं उतरते, दूसरे ये दृश्य भावोद्रेक में भी सहायक होते रहते हैं। इनको आचार्यों ने विभाव पक्ष में माना है और इनका नाम उद्दीपन विभाव रक्खा गया है। रसों की बँधी हुई परिपाटी के अंतर्गत प्राकृतिक दृश्य उद्दीपन विभाव के रूप

ही में आते रहे। रसोद्रेक में जिन दृश्यों से सहायता नहीं मिलती उनके वर्णन की काव्य में आवश्यकता ही नहीं समझी गई। परंतु कवियों ने स्वतंत्ररूप से भी प्राकृतिक रूपों का वर्णन किया है। ऐसे वर्णन उद्दीपन विभाव नहीं कहे जा सकते। कुछ कवियों के हृदयों में प्रकृति के सुंदर तथा रम्य दृश्यों के प्रति एक अनुराग होता है अतः कवि उन दृश्यों में मग्न होकर अपने भावों के चित्रण का प्रयत्न करते हैं। हम कहें तो कह सकते हैं कि ऐसे वर्णनों में प्रकृति स्वयं ही आलंबन हो जाती है।

काव्य में प्रकृति के सुंदर दृश्यों का उपयोग अनेक प्रकार से किया गया है। कहीं प्रकृति आलंकारिक रूप में आती है, कहीं किसी भाव के उद्रेक में सहायता मिलती है, कहीं सबको पीछे हटा स्वयं प्रमुख स्थान ग्रहण करती है। आलंकारिक रूप में चंद्र, कमल, विद्युत, नील गगन इत्यादि का उपयोग हमारे यहाँ बहुत प्राचीन समय से होता आया है, संस्कृत में भी, हिंदी में भी। ऐसे वर्णनों में चंद्रकमलादि के सौंदर्य पर कवि उतना मुग्ध होता प्रतीत नहीं होता जितना अपने प्रस्तुत वर्ण्य विषय पर। कवि को नीले मेघों में चमकती हुई विद्युत का ध्यान उसी समय आता है जब वह घनश्याम को पीतांबर से युक्त देखता है। चंद्रमा भी किसी न किसी रमणी के मुख की सौंदर्य-वृद्धि के लिये पहुँच जाता है। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न रंगों के कमल नेत्र, मुख, कर, इत्यादि के उपनाम रूप में आते हैं। उद्दीपन विभाव के अंतर्गत प्रकृति के रमणीय दृश्यों का चित्रण किसी प्रस्तुत भाव को उद्दीप्त करने के लिये होता है। इसके बाद प्रकृति के स्वतंत्र चित्रण का स्थान है। केशव के प्राकृतिक वर्णनों को इन तीनों दृष्टियों से देखना है। आलंकारिक रूप में आए हुए प्राकृतिक दृश्यों के विषय में यह कहा जा सकता है कि केशव को अपने अप्रस्तुत प्रकृति में से चुनने की उतनी रुचि नहीं थी। इस रूप में प्रकृति के दृश्यों की जो योजना केशव ने की है वह यह बताती है कि उनका प्रकृति के प्रति कोई अनुराग न था। नीचे की पंक्ति में ऐसा प्रतीत होता है कि लता को उपमानरूप में लाने मात्र ही से कवि संतुष्ट

नहीं है। लता के प्रति उसके हृदय में जो अनुराग है उसका भी संकेत वह देना चाहता है।

काम ही की दुलही सी काके कुल उलहीसु,
लहलही ललित लता-सी लोल सोहिए।

ये पंक्तियाँ केशव की ही हैं परंतु वह अनुराग यहीं समाप्त समझिए। उनके ग्रंथों में और कहीं भी ऐसे वर्णन न मिलेंगे। एक बार तो उन्होंने अपने हृदय की बात स्पष्ट कह दी —

देखे मुख भावै अनदेखेई कमलचंद,
ताते मुख मुखै कमलौ न चंद री।

कमल तथा चंद ऐसी विश्व की विभूतियाँ केशव को भाती नहीं। अपनी-अपनी रुचि ही तो है।

उद्दीपन विभाव के रूप में आए हुए दृश्य केशव में बहुत कम हैं। अयोध्या के उपवन इत्यादि का वर्णन किया गया। परंतु वहाँ भी उपवन, तड़ाग इत्यादि के चित्र अंकित करने की ओर कवि का ध्यान नहीं था। वह दूर-दूर से खोजकर उपमान जुटाने ही में लगा रहा। स्वतंत्ररूप से प्रकृति के चित्रण करने के अवसर केशव को अवश्य मिले परंतु वे सफल कैसे हो सकते थे जब उनकी व्यक्तिगत रुचि ही इन सबकी ओर न थी।

संस्कृत के कुछ आचार्यों ने काव्य-शिक्षा पर भी कुछ पुस्तकें लिखी हैं। इनमें स्थान-स्थान पर यह भी बताया गया है कि कवि को किन-किन वस्तुओं का वर्णन करना चाहिए। केशव ने भी कविप्रिया में वर्ण्यों की एक तालिका उपस्थित की है। उसमें उन्होंने उन वस्तुओं के नाम गिना दिए हैं जिनका वर्णन कवि को करना चाहिए जैसे —

देस, नगर, बन, गिरि, आश्रम, सरिता, ताल।
रवि, ससि, सागर, भूमि के भूषन, ऋतु सब काल॥

बन, बाग इत्यादि के वर्णन में कवि को किन-किन वस्तुओं का उल्लेख करना चाहिए इसकी भी शिक्षा केशवदासजी ने दी है। इनमें से एक आध ने देख लेना अप्रासंगिक न होगा।

वन—

सुरभी, इभ, वनजीव बहु भूतप्रेत भयभीर।
भिल्ल भवन बल्ली विटप, दव बरनहु मतिधीर॥

बाग—

ललित लता तरुवर कुसुम, कोकिल कलरव मोर।
बरनि बाग अनुराग स्यों, भँवर भँवत चहुं ओर॥

इन सब बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि केशव ने काव्यधारा को कुछ बँधी हुई नालियों के अंदर बंद करना चाहा था। ऐसे बंधनों के रहते हुए स्वतंत्र उद्भावना को अधिक स्थान ही न रह गया था। जिस प्रकार पाठशालाओं में बच्चों को पहाड़े सिखाए जाते हैं उसी प्रकार कवियों को काव्यरचना नहीं सिखाई जा सकती। जो कविगण ऐसे विषयों की भी शिक्षा गुरुमुख से ही लेना चाहते हैं उनके काव्यों में, कवि की स्वतंत्र प्रतिभा से उत्पन्न, भावमय चित्रों को स्थान ही न रहेगा। केशवदासजीने नदी, पर्वत, उपवन, षड्ऋतु, बारहमासा, सूर्योदय, समुद्र इत्यादि अनेक दृश्यों तथा ऋतुओं के वर्णन किए हैं परंतु एक बात उनके सब वर्णनों में मिलती हैं। उनका मन प्रस्तुत विषयों की रमणीयता में मग्न नहीं होता। वे अप्रस्तुतों की कौतूहलपूर्ण योजना में लगे रहते हैं। प्रकृति की रमणीयता में सहृदयता से अनुरक्त होने के लिए जिस सुकुमार हृदय की अपेक्षा है वह केशव को नहीं मिला था अथवा उनके काव्य के सिद्धांत इन सब बातों के साथ मेल नहीं खाते थे। न तो हम उनके हृदय में वह सहृदयता पाते हैं जो अपने तथा पराये सबके सुख-दुःख से प्रभावित हो सके, न वह विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति जो अपने चारो ओर फैले हुए प्रकृति के रम्य उपादानों को देखकर अनुरक्त हो सके। रामचंद्रिका में जब-जब प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण का अवसर आया वे शब्दों की करामात दिखाने लगे। यह करामात वास्तविक विषय को बहुत दूर फेंक देती है। उदाहरणस्वरूप उनके दंडक तथा पंचवटी के वर्णन लिए जा सकते हैं—

बेर भयानक-सी अति लगै। अर्क-समूह जहाँ जगमगै।
पांडव की प्रतिमा सम लेखो। अर्जुन भीम महामति देखो॥

अर्क शब्द का अर्थ सूर्य भी होता है और मदार का वृक्ष भी। मदार के वृक्ष को देखकर उन्हें प्रलयकाल के बहुसंख्यक सूर्यों का ध्यान आ जाता है और वे भय के मारे काँपने लगते हैं। शब्दों का चमत्कार अधिक-से-अधिक यदि कुछ कर सकता है तो यह कि वह हमारे हृदय में एक कौतूहल को जागरित करे। पर शब्द-साम्य से ऐसा प्रभाव कभी नहीं होता कि किसी को भय लगने लगे। भीम तथा अर्जुन का अर्थ क्रमशः ककुभ और अम्लवेतस भी होता है। ये वृक्षों की दो विशेष जातियाँ हैं। साम्य के आधार पर कवि को वह संपूर्ण वन पांडव की प्रतिमा के समान दिखाई देने लगता है। कवि को इतना भी ध्यान नहीं रहता कि पांडवों को उत्पन्न होने को अभी एक युग बाकी पड़ा था। पंचवटी को भी उन्होंने शिव के रूप में देखा है—

सब जाति फटी दुख की दुपटी कपटी न रहै जहँ एक घटी।
निघटी रुचि मीचु घटी हू घटी सब जीव जतीन की छूटी तटी॥
अघ ओघ की बेरी कटी बिकटी निकटी प्रगटी गुरु ज्ञान गटी।
चहुँ ओरनि नाचति मुक्ति नटी गुन धूरजटी बन पंचवटी॥

नदियों के वर्णन करने का अवसर उनको तीन बार मिला। सरयू, गोदावरी तथा बेतवा नदियों के वर्णन उन्होंने किए हैं। ये वर्णन प्रायः आलंकारिक हैं। सरयु तथा गोदावरी के वर्णन विरोधाभास अलंकार में किए गए हैं। उनके बेतवा के वर्णन से उनके हृदय का अनुराग कुछ-कुछ प्रकट होता है। गोदावरी—

विषमय यह गोदावरी, अमृतन के फल देति।
केसव जीवन हार के, दुःख असेष हरि लेति॥

काव्य के वर्ण्य विषयों में समुद्र का वर्णन उन्होंने स्वयं आवश्यक माना अतः अपने काव्यों में भी दो बार समुद्र का वर्णन किया। परंतु कहीं भी समुद्र के स्वरूप, विस्तार, गंभीरता इत्यादि की व्यंजना की ओर

उनका ध्यान नहीं था। एक स्थान पर तो इतना विस्तृत तथा विशाल समुद्र उन्हें एक नागरिक-सा प्रतीत हुआ और एक स्थान पर वे अपना ब्रह्मज्ञान दिखाने लगे—

(१) भूति विभूति पियूषहु की विष ईस सरीर कि पाय वियो है।
है किधौं केसव कस्यप को घर देव अदेवन के मन मोहै॥
संत हियो कि बसै हरि संतत सोभा अनंत कहै कवि को है।
चंदन नीर तरंग तरंगित नागर कोउ कि सागर सोहै।

(२) सेष धरे धरनी धरनी धरे केसव जीव रचे बिधि जेते।
चौदह लोक समेत तिन्है हरि के प्रति रोमहिं मैं चित चेते॥
सोवत तेउ सुने इनहीं मैं अनादि अनंत अगाध है एते।
अद्भुत सागर की गति देखहु सागर ही महँ सागर केते॥

सूर्योदय का वर्णन रामचंद्रिका में दो स्थानों पर किया गया है। प्रथम वर्णन उस समय का है जब रामचंद्रजी जनकपुरी में प्रवेश कर रहे थे। वर्णन यद्यपि अलंकारिक है परंतु फिर भी उठान अच्छा है, पर आगे चलकर ऐसी वस्तुओं को वे सामने लाते हैं जिनके द्वारा सुंदर भाव पर आघात पहुँचता है—

परिपूरन सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट।
किधौं सक्र को छत्र मढ्यो मनिक मयूख पट॥
कै सोनित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग्भामिनि के भाल को॥

दूसरा स्थल वह है जहाँ राजगद्दी हो जाने के बाद भगवान रामचन्द्रजी किस दिन प्रातःकाल शय्या से उठ रहे हैं—

अमल कमल तजि अमोल मधुप लोल टोल टोल,
बैठति उड़ि करि कपोल दान मान कारी।
मानहु मुनि ज्ञान वृद्ध छोड़ि-छोड़ि गृह समृद्धि,
सेवत गिरिगन प्रसिद्ध सिद्ध सिद्धिधारी॥

तरनि किरन उदित भई दीप-ज्योति मलिन गई,
सदय हृदय बोध उदय ज्यों कुबुद्धि नासै।
चक्रवाक निकट गई चकई मन मुदित भई,
जैसे निज ज्योति पाय जीव ज्योति भासै।
अरुन तरनि के बिलास एक-दोय उड़ अकास,
कलि के-से संत ईस दिसन अंत राखैं॥

यह वर्णन अलंकारों से बँधा हुआ होने पर भी सुंदर ही हुआ है। 'तरनि किरन उदित भई, दीप-ज्योति मलिन गई' तथा 'अरुण तरणि के विलास, एक दोय उड़ अकास' इत्यादि पंक्तियों से ज्ञात होता है कि कवि ने अपने निरीक्षण से बहुत कुछ काम लिया है। सूर्य के उदय हो जाने पर दीपों का प्रकाश मंद पड़ जाता है तथा तारागण अस्त होने लगते हैं। परंतु सबके सब तारे सूर्य के आते ही अदृश्य नहीं हो जाते। कुछ दिन चढ़े तक एक-आध तारे मंद होते हुए बने ही रहते हैं।

बारह मासा तथा षड्ऋतुओं के वर्णन भी उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार के उनके और वर्णन। षड्ऋतुओं को उन्होंने वसंत, कालिका, शारदा, बारनारि इत्यादि रूपों में दिखाया है। कहीं भी ऋतुओं में होनेवाली प्राकृतिक शोभा इत्यादि का काव्योचित वर्णन नहीं। वे वर्णन किस प्रकार के हैं यह नीचे के उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा—

(१) सिव को समाज किधौं केसव बसंत है।
(२) सवर समूह कैधौं ग्रीषम प्रकासु है।
(३) कालिका कि बर्षा हरषि हिय आई है।
(४) केसोदास सारदा कि सरद सुहाई है।
(५) सीकर तुषार स्वेद सोहत हेमंत ऋतु
कैधौं केसोदास प्रिया प्रीतम बिमुख कौ।
(६) सिसिर की सोभा कैधौं बारनारि नागरी।

बारह मासों का वर्णन आक्षेप अलंकार में किया गया है। प्रत्येक मास में कोई-न-कोई नायक परदेश जाने को कटिबद्ध बैठा है। उसकी

प्रेयसी कुछ-न-कुछ कारण बताकर उसे विदेशयात्रा से रोकती है। उदाहरण के लिए आषाढ़ का वर्णन दिया जाता है—

पवन चक्र परचंड चलत चहुँ ओर चपल गति।
भवन भामिनी तजत भँवति मानहुँ तिनकी गति॥
संन्यासी यहि मास होत एक आसनबासी।
मनुजन की को कहै भए पच्छियौ निवासी॥
एहि समय सेज सोवन लियौ श्रीहि साथ श्रीनाथ हू।
कहि केसव आषाढ़ चल मैं न सुन्यौ श्रुति-गाथ हू॥

इसी बारहमासे के सिलसिले में श्रावण का वर्णन करते समय उन्होंने एक बात बड़े सुंदर ढंग से कही है। पृथ्वी ग्रीष्म ऋतु में मानों अपने प्रिय मेघ की वियोगाग्नि में जलती रहती है। श्रावण में अपने 'मनभावन' मेघ को पा मोरों के मिस कूजने लगती है। नवजलदागम के समय मोरों के बोलने की बात तो पुरानी ही है परंतु केशव की यह कल्पना बहुत मार्मिक हुई है—

रुचि चपला मिलि मेघ चपल चमकत चहुँ ओरन।
मनभावन कहँ भेंटि भूमि कूजत मिसि मोरन॥

एक बार रसिकप्रिया में घने बादलों के द्वारा फैले हुए अंधकार का बहुत सुंदर वर्णन किया है। घने अँधेरे में हम अपने परिचित को भी तभी पहचान पाते हैं जब वह कुछ बोलता है—

रातिन्ह आइ चले घर कौ दसहूँ दिसि मेघ महा मिलि आए।
दूसरौ बोलत ही समुझै कहि केसव यौं छिति मैं तम छाए॥

ऋषियों के आश्रम का वर्णन करते समय शांति की व्यंजना के लिये प्रायः कविगण यह दिखाया करते हैं कि परस्पर द्वेष रखनेवाले पशु भी स्नेह से रहते हैं। केशवदासजी ने भी इस शांति का चित्रण करते समय ऐसा ही किया; परंतु अतिशयोक्ति से इतना अधिक काम लिया गया कि वर्णन शांति की व्यंजना करने के स्थान में आजकल के-से सर्कसों ऐसा दृश्य सामने लाता है। अतिशयोक्ति काव्य की सहायक अवश्य

है; पर सब प्रकार की अतिशयोक्तियाँ काव्य की मर्यादा के अनुकूल ही नहीं पड़तीं—

केसौदास मृगज बछेरू चोषैं बाघनीन,
चाटत सुरभि बाघ बालक बदन है।
सिंहन की सटा ऐंचैं कलभ करनिकरि,
सिंहन कौ आसन गयंद कौ रदन है॥
फनी के फनन पर नाचत मुदित मोर,
क्रोध न विरोध जहाँ मद न मदन है।
बानर फिरत डोरे-डोरे अंध तापसन,
ऋषि को समाज कैधौं सिव कौ सदन है॥

प्रबंध-कल्पना तथा चरित्र-चित्रण

जब कवि किसी काल्पनिक घटना को लेकर अपने काव्य का ढाँचा खड़ा करता है तो उसे प्रबंध-कल्पना के चातुर्य्य को दिखाने का अधिक अवसर मिलता है। रामायण ऐसी प्रसिद्ध कथा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं कर सकता। रामायण की कथा का क्रम तथा उसके पात्र अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ चिरकाल से हमारे हृदयों में प्रतिष्ठित हैं। राम-रावण का चरित्र जिस रूप से लोगों ने समझ रखा है उससे भिन्न रूप में यदि वे पात्र जनता के संमुख उपस्थित किए जावें तो वे उतने उत्साह से न अपनाए जा सकेंगे। 'मेघनाद-वध' में मेघनाद के चरित्र को बहुत ऊपर उठाने का प्रयत्न किया गया है परंतु फिर भी जनता में चिरप्रतिष्ठित भाव को दूर करने में सारी प्रतिभा के रहते हुए भी बंगाली कवि मधुसूदनदत्त समर्थ न हो सके। इसका कारण यही है कि जनता किसी भी कवि को इतना अधिकार नहीं देना चाहती कि वह उसके चिर-परिचित पात्रों के स्वरूप पर आघात पहुँचावे। स्थान-

स्थान पर घटनाओं के क्रम में तथा पात्रों के चरित्र में कुछ परिवर्तन कवियों ने अवश्य किए हैं परंतु वे बहुत महत्व के नहीं। घटनाओं में तो इस दृष्टि से परिवर्तन किए गए कि कवि एक बार जिधर निकल गया वहाँ पहुँचकर उसे ज्ञात हुआ कि अभीष्ट परिवर्तन बिना किए उसके काव्य में कला की दृष्टि से दोष आ जावेंगे। ऐसा ही एक बार तुलसी ने भी मानस में किया है। संस्कृत की प्रायः रामायणों में परशुराम का आना राम के पाणिग्रहण के बाद वर्णित है परंतु तुलसी की घटनाओं का क्रम ऐसा हो गया कि उन्हें परशुराम के आने का वर्णन राम-विवाह के पहले करना पड़ा। हनुमन्नाटक में भी यही तुलसीवाला क्रम है। तुलसी के इस परिवर्तन करने का कारण यह था कि उन्होंने राजाओं के क्रोध का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। उनमें से कुछ राजाओं की इच्छा थी कि यदि राम धनुष चढ़ा भी लें तो भी युद्ध में उनको परास्त कर सीता को बलपूर्वक ले लिया जावे। ऐसी अवस्था में परशुराम के आ जाने से राजाओं का क्रोध शांत हो गया और उन्होंने देख लिया कि राम कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं। परशुराम ऐसे प्रतापी योद्धा की भी उनसे कुछ न चली। अतः परशुराम के आने से राम और अन्य राजाओं के बीच का अनिवार्य युद्ध बड़े कौशल से टाल दिया गया। केशव ने भी घटनाओं में कुछ परिवर्तन किए हैं परंतु उनका महत्व काव्य तथा कला की दृष्टि से कुछ बहुत नहीं। वे परिवर्तन प्रायः कथा को संक्षिप्त करने ही को किए गए हैं। एक बात और है। उनके बहुत से परिवर्तन वास्तव में परिवर्तन नहीं हैं। हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव इत्यादि ग्रंथों में कहीं-न-कहीं उनका आधार अवश्य मिल जाता है। परंतु जब कवि ने किसी बात का समावेश अपने ग्रंथ में किसी रूप में कर दिया तो उसका उत्तरदायित्व उसी के ऊपर है।

बातचीत के क्रम से जब परशुराम और राम के बीच अधिक झगड़ा हो जाने की संभावना हुई तो महादेव वहाँ स्वयं पहुँच गए और उन्होंने दोनों को समझा-बुझाकर शांत कर दिया —

राम राम जब कोप कर्‌यो जू । लोक-लोक भय भूरि भर्‌यो जू ॥
वामदेव तब आपुन आए । रामदेव दोउन समझाए ॥

जब चित्रकूट में भरत राम को मनाने गए थे तो भागीरथी प्रकट हो गईं और उन्होंने भरत को समझा दिया और वे लौट गए—

भागीरथी रूप अनूपकारी । चंद्राननी लोचन कंज धारी ॥
बानी बखानी सुभ तत्त्व सोध्यो । रामानुजै आनि प्रबोध बोध्यो ॥

तुलसीदासजी ने भरत को समझाने को पंच नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं समझी। इस स्थल को बहुत ही मार्मिक समझ उन्होंने अपनाया और यहाँ पर 'भायप भगति' वत्सलता, उदारता, त्याग, हृदय की कोमलता इत्यादि उच्च भावों की अत्यंत सुंदर व्यंजना की। परंतु केशव गंभीर मार्मिक भावों के चित्रण में न अभिरुचि रखते थे न उतनी योग्यता। ऐसी अवस्था में पंचायत के द्वारा मामला तै करके उन्होंने चतुराई ही से काम लिया क्योंकि और कोई चारा ही नहीं था।

रावण-बाणासुर-संवाद में भी कुछ कल्पना से काम लिया गया है। रावण यह प्रतिज्ञा करके रंगभूमि में जमकर बैठ जाता है कि—

अब सीय लिए बिन हौं न टरौं। कहुँ जाहु न तौ लगि नेम धरौं ॥
जब लौं न सुनौं अपने जन को। अति आरत सब्द हते तन को ॥

इतने ही में कहीं कोई राक्षस किसी के द्वारा मारा जाता है और उसकी पुकार सुन रावण रक्षा के लिये चला जाता है।

काहू कहूँ सर आसर मार्‌यौ, आरत सब्द अकास पुकार्‌यौ।
रावन के वह कान पर्‌यो जब, छोड़ि स्वयंबर जात भयो तब।

ऐसी आकस्मिक घटनाएँ जीवन में कभी-कभी हो तो अवश्य जाया करती हैं, परंतु ऐसी घटनाओं पर काव्य के प्रवाह का निर्भर रहना कवि का चातुर्य्य नहीं प्रकट करता और न श्रेष्ठ कवियों ने ऐसी घटनाओं से लाभ ही उठाया है। अंग्रेज कवि शेक्सपियर के समालोचकों की संमति है कि उसकी कला आकस्मिक घटनाओं पर बहुत कम निर्भर है। केशव के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि रावण अपने किसी सेवक को सिखा-

आया था कि तुम ठीक समय पर चिल्ला पड़ना। ऐसा ही वर्णन प्रसन्नराघव में भी है।

कुछ परिवर्तन केशव ने इसलिए किए हैं कि उनकी प्रकृति राजनीतिक कूटनीति की ओर थी। उनके पात्र प्रायः जहाँ एक ओर अलंकारों के पंडित हैं वहाँ दूसरी ओर कूटनीति में भी प्रवीण। रामचंद्रजी को भी केशव ने राजनीति-दक्ष बना दिया है और ऐसा करने से एक स्थान पर भरत तथा राम दोनों के चरित्र पर आघात पहुँचा है। लक्ष्मण जब वन चलने को आज्ञा माँगते हैं तो राम उनसे कहते हैं कि—

धाम रहौ तुम लक्ष्मन राज की सेव करौ।
मातनि के सुनि तात सुदीरघ दुःख हरौ॥
आय भरत्थ कहा धौं करैं जिय भाय गुनौ।
जौ दुख देयँ तौ लै उर गौ यह सीख धरौ॥

गुरुजनों का छोटों के चरित्र पर संदेह करना भी छोटों के चरित्र को नीचे गिराता है। 'आय भरत्थ कहा धौं करैं' से यह ध्वनि निकलती है कि राम को भरत के चरित्र पर भरोसा नहीं है। भरत के दिए हुए दुःख को चुपचाप सह लेने की शिक्षा से यह ध्वनि भी निकल सकती है कि हम आकर भरत को देख लेंगे, तुम चुप रहना। ऐसी अवस्था में एक ओर तो राम के चरित्र की गंभीरता नष्ट हो जाती है दूसरी ओर भरत का चरित्र बहुत नीचे गिर जाता है। तुलसी के राम भरत पर इतना विश्वास प्रकट करते हैं 'भरतहिं होइ न राजमद विधि हरिहर पद पाइ।' केशव के राम भरत पर इतना तुच्छ संदेह प्रकट करते हैं। यह गलती केशव की राजनीतिक चतुरता के कारण हो गई। रामचंद्रिका का रावण भी अपने को बहुत चतुर समझता है। एक ओर सीता को राम के चरित्र में दोष लगा अपनी ओर मिलाना चाहता है दूसरी ओर राम के विरोध में अंगद को उभाड़ना चाहता है। सीता से रावण कहता है—

तुम्हैं देवि दूषै हितू ताहि मानै, उदासीन तोसौं सदा ताहि जानै।
महा निर्गुनी नाम ताको न लीजै, सदा दास मोपै कृपा क्यों न कीजै॥

यहाँ पर कोई साधारण स्त्री रही होती और वह रावण की यह चाल समझकर बच निकलती तो उसका चरित्र बहुत कुछ ऊँचा हो गया होता। परंतु सीता का चरित्र पहले ही से इतनी उच्चता पर प्रतिष्ठित है कि इस कल्पना से उनके चरित्र में कोई विशेषता नहीं आती। परंतु रावण की ओर से देखने से यह चाल बहुत ही स्वाभाविक प्रतीत होती है। जब हम किसी ऐसे व्यक्ति को जो किसी दूसरे से स्नेह रखता है अपनी ओर आकृष्ट करना चाहते हैं तो हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम उस व्यक्ति के प्रति अपने प्रिय के हृदय में कुछ विरक्ति या तिरस्कार का भाव उत्पन्न कर दें। 'सदा दास मोपै कृपा क्यों न कीजै' भी साधारण कामुकों की-सी एक उक्ति है जिससे साधारणतः सभी परिचित हैं और जो केशव के काव्य में कुछ स्वाभाविकता संपादन करने में समर्थ हुई। रावण का अंगद को फोड़ने का प्रयत्न भी बहुत काव्योचित हुआ है। वह अंगद से कहता है कि देखो ये रामचंद्र कुछ बहुत भले आदमी नहीं हैं। इन्होंने हमारे परम मित्र तथा तुम्हारे बाप बालि को निरपराध मार डाला। तुम्हारे ऐसे सपूत के लिये यह बहुत लज्जा की बात है। तुम हमारा सब दल लेकर उसे आज ही क्यों नहीं मार डालते—

तो-से सपूतहिं जाय के बालि अपूतन की पदवी पगु धारै।
अंगद संग लै मेरो सबै दल आजुहि क्यों न हतै बपु मारै॥

इन चालों से रावण की कूटनीति-निपुणता तथा क्षुद्रता प्रकट होती है और इन चालों में न आने से अंगद के चरित्र की दृढ़ता, उच्चता तथा राम पर उनकी अनन्य भक्ति भी। राम और रावण के बीच में भी केशव ने कुछ कूटनीति के दाँव-पेंच दिखाए हैं। रावण का दूत राम से आकर कहता है—

पूजि उठे जबही सिव को तबही बिधि सुक्र बृहस्पति आए।
कै बिनती मिस कस्यप के तिन देव-अदेव सबै बकसाए॥
होम की रीति नई सिखई कछु मंत्र दियो श्रुति लागि सिखाए।
हौ इत को पठयो उनको उत लै प्रभु मंदिर मौँझ सिधाए॥

इस संवाद को भेजने में रावण का यही तात्पर्य था कि ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि तो हमसे विनती करते हैं इससे हमारा प्रताप और ऐश्वर्य समझ लो और मुझे होम की एक नई रीति भी ज्ञात हो गई है जिसका अनुष्ठान कर लेने पर मैं तुम्हारे वश का न रहूँगा। राम ने ध्यान से इस संदेसे को सुन, दूत से कहा कि जब रावण मंदोदरी के साथ बैठे हों तो तुम हमारी बात कहना। तात्पर्य यह था कि मंदोदरी के सामने रावण अपना अपमान होते देख क्रुद्ध हो उठेगा और संधि की चर्चा आगे न चलावेगा।

इन साधारण स्थलों को छोड़ केशव ने और कोई महत्व की कल्पना नहीं की। प्रबंध का निर्वाह करने में वे उतने सफल नहीं हुए हैं। मुख्य-मुख्य घटनाओं पर उनकी दृष्टि इतनी जमी रहती थी कि बीच की घटनाओं को या तो वे छोड़ देते थे अथवा ऐसे ढंग से चलता कर देते थे कि कथा तथा चरित्र दोनों पर आघात पहुँचता था। मुक्तक काव्य में कवि पाठक का ध्यान किसी एक चुनी हुई घटना ही की ओर आकृष्ट करता है, शेष कथा की कल्पना पाठक या श्रोता स्वयं कर लेते हैं। परंतु प्रबंध-काव्य में कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह बीच की घटनाओं की लड़ी मिलाता चले और विशेष-विशेष घटनाओं को महत्व भी दे। पात्रों का चरित्र-चित्रण करने का जितना अवसर प्रबंध-काव्य में है उतना मुक्तक में नहीं है। मुक्तक के द्वारा रसोद्रेक तो किया जा सकता है परंतु पात्रों का चित्रण उसमें वैसा नहीं हो पाता क्योंकि चरित्र-चित्रण में व्यक्तियों की विशेषताओं का क्रमिक विकास दिखाना होता है जो मुक्तक के संकुचित क्षेत्र में संभव नहीं।

केशव कथा के क्रम के निर्वाह में सफल नहीं हुए हैं इसलिए यह कहने की आवश्यकता भी नहीं कि उनके पात्रों में वैसी सजीवता नहीं आने पाई और कहीं-कहीं भयानक भूलें हो गई हैं। स्थान-स्थान पर कथा-सूत्र झटके से टूट जाता है। राजा दशरथ राम को राज्य देने का विचार कर रहे हैं। इतने ही में—

यह बात भरत्थ की मातु सुनी। पठऊँ बन रामहिं बुद्धि गुनी ॥

यह बात सुनते ही कैकेयी के हृदय में राम को वन भेजने का विचार उठना यह दिखाता है कि कैकेयी को राम से स्वाभाविक द्वेष था। यदि स्वाभाविक द्वेष रहा होगा तो राम के वन से लौट आने पर भी राजमहल में कुछ-न-कुछ झगड़ा-टंटा आए दिन होता रहा होगा। परंतु बात ऐसी नहीं थी। कैकेयी का द्वेष वास्तव में द्वेष नहीं था। वह आकस्मिक क्रोध था जिसके लिये कैकेयी के स्वभाव का भोलापन तथा मंथरा की दुष्टता बहुत कुछ उत्तरदायी थी। मंथरा के चरित्र को छोड़ देने से कैकेयी का चरित्र एक भिन्न ही प्रकार का हो गया है।

राम से वन जाने को अभी किसी ने नहीं कहा है। न जाने किसके मुँह से उन्हें समाचार मिला और वे वन जाने की तय्यारी करने लगे—

उठि चले विपिन कहँ सुनत राम।
तजि तात मात तिय बंधु धाम ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि अयोध्या का राजमहल मात-पिता तथा अन्य स्वजनों के स्नेह से स्निग्ध एक आदर्श कुटुम्ब न था, एक सराय अथवा धर्मशाला थी जिसमें रामचंद्रजी कुछ दिनों के लिए ठहरे हुए थे और अपने नियत दिन पूरे कर चलते बने। सीता-लक्ष्मण के साथ में चलने को प्रस्तुत हो जाने पर राम न तो पिता से विदा लेने जाते हैं और न माँ के चरण-स्पर्श करने, बस एकदम वन में विराजने लगते हैं—

बिपिन मारग राम बिराजहीं।

इस प्रकार के प्रसंगों को छोड़ देने से चरित्रों पर भी आघात पहुँचा है। देखिए विराध बेचारे का वध कितने छोटे से अपराध पर हो गया—

बिपिन बिराध बलिष्ठ देखियो। नृपतनया भयभीत लेखियो ॥
तब रघुनाथ बान कै हयो। तिज निरबान पंथ को ठयो ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि बेचारे की सूरत कुछ ऐसी बनी थी कि सीताजी उसे देखकर डर गईं। रामचंद्रजी ने झट उसे मार डाला।

यहाँ कथा-प्रसंग छोड़ देने से, जो राम संतों के त्राण के लिए थे वे चरित्र की उस साधारण सतह पर पहुँच जाते हैं जहाँ ऐरे-गैरे बहुतेरे संसारी-जन रहा करते हैं जो अपनी स्त्री को प्रसन्न करने को ऐसे कांड करने को प्रस्तुत रहते हैं जिनसे समाज की शांति में बहुत बाधा पहुँचती है।

प्रसंग का निर्वाह रामचंद्रिका के पूर्वार्द्ध के प्रारंभिक भाग में तथा ग्रंथ के उत्तरार्द्ध में बहुत ठीक हुआ है। राम-लक्ष्मण का विश्वामित्र के आश्रम में जाना, राक्षसों का वध करना, धनुष-यज्ञ का प्रसंग इत्यादि घटनाएँ बड़े काव्योचित ढंग से एक दूसरे से समन्वित आगे अग्रसर होती हैं। उत्तरार्द्ध में भी लवकुश का चरित्र तथा युद्ध की घटनाओं का वर्णन बहुत ठीक हुआ है। परंतु ग्रंथ के मध्यभाग में केशव ने प्रसंग-निर्वाह की ओर इतना कम ध्यान दिया है कि उनका काव्य प्रबंध काव्य-सा प्रतीत ही नहीं होता। चरित्रों में भी वे पूरा रंग भरने में समर्थ नहीं हुए हैं। वैसे तो राम-कृष्णादि की कथाएँ लोक में इतनी प्रसिद्ध हैं कि मुक्तक रचनाओं से भी काम चल सकता है और इन विशेष पुरुषों के चरित्र के लिए जनता को कवियों का मुँह नहीं देखना पड़ता। परंतु यदि केवल केशव का सहारा लेकर राम-भरतादि का चरित्र-चित्रण किया जावे तो चरित्र का बहुत विकृत रूप सामने आवेगा। एक-आध उदाहरण ले लेने से बात कुछ स्पष्ट हो जावेगी। सीता का चरित्र कुछ-कुछ राधा के पास पहुँच गया है। केशव की सीता तुलसी की सीता से बहुत कुछ भिन्न हो गई हैं। वन-यात्रा में रामचंद्र तो वल्कल वस्त्र के अञ्चल से सीता पर पंखा झल रहे हैं और सीताजी बस इतना ही करती हैं कि अपने चंचल चारु दृगंचल से उनकी ओर देख लेती हैं।

> मग को श्रम श्रीपति दूर करैं। सिय को सुभ बालक अंचल सों।
> श्रम तेऊ हरैं तिनको कहि केसव चंचल चारु दृगंचल सों॥

तुलसी की सीता ने भी वनयात्रा के प्रारंभ में कहा था कि मैं सारी

रात आपके पैर दबाया करूँगी और मन में प्रसन्न रह आप पर पंखा झला करूँगी। परंतु हम देखते हैं कि वन में तुलसीदासजी ने इन सब सेवाओं की कहीं चर्चा भी नहीं की है। संभवतः इसलिए कि सीता माता भगवान की जहाँ पर उपर्युक्त सेवाएँ कर रही थीं वहाँ स्वयं जाना अथवा पाठकों का ले जाना उन्होंने उचित नहीं समझा। सीता की केवल दो सेवाओं का वर्णन अवश्य मिलता है—

बटछाया बेदिका सोहाई। सिय निज पानि-सरोज बनाई।
तुलसी तरुवर कछुक सोहाए। कछु सिय कछु पुनि लखन लगाए।

हम देखते हैं तुलसी ने जो बात छोड़ दी है उसमें भी कुछ कला, कुछ सहृदयता तथा कुछ मर्यादा का ध्यान अवश्य है। मार्ग में चलते चलते तुलसी की सीता इस बात का ध्यान रखती हैं कि राम जहाँ-जहाँ अपने पैर रखते हैं वहाँ-वहाँ वे अपने पैर नहीं रखतीं और लक्ष्मण तो— 'सीयराम पद चिह्न बराए। लषन चलहिं मग दाएँ बाएँ।' परंतु केशव की सीता कैसे आनंद से भगवान के पैरों से दबी हुई धूल पर पैर रखती जाती हैं और ऐसा करने में भगवान की अपेक्षा उन्हें कष्ट भी कुछ कम होता है क्योंकि जलती हुई धूल पर जब राम बार-बार पैर रखते हैं तो तपन उनके पैरों के स्पर्श से स्वभावतः कुछ कम हो जाती है—

मारग की रज तापित है अति, केसव सीतहिं सीतल लागति।
ज्यों पद-पंकज ऊपर पायनि, दै जु चलै तेहि तें सुखदायनि॥

उसी प्रकार कौशल्या के चरित्र का भी कुछ पतन हो गया है। तुलसी की कौशल्या लोक-संग्रह का भाव रखते हुए छाती पर पत्थर रख राम को वन जाने की आज्ञा देती हैं। परंतु केशव की कौशल्या राम के मुँह से संवाद सुन एकदम बिगड़ उठती हैं और कहती हैं—

अवधपुरी महँ गाज परै

इतना तो स्मरण रखना चाहिए था कि उसी अवधपुरी में दशरथ, सुमित्रा इत्यादि भी बसते थे। कौशल्या तुरंत राम के साथ वन चलने को प्रस्तुत हो जाती हैं—

मोहिं चलौ बन संग लियैं, पुत्र तुम्हैं हम देखि जियैं।

परंतु तुलसी की कौशल्या बड़ी गंभीरता, बड़ी दूरदर्शिता तथा बड़े आत्म-त्याग से कहती हैं—

जो मैं कहहुँ संग मोहिं लेहू। तुम्हरे हिय उपजै संदेहू॥

केशव के संवाद

कवि कथनोपकथन की योजना-द्वारा पात्रों को और भी सजीवता प्रदान करता है। जब तक कवि स्वयं पात्रों के विषय में कुछ कहता रहता है तब तक हमें यह प्रतीत होता है कि पात्र हमसे अभी दूर हैं। किंतु संवादों में पात्र हमारे बहुत पास आ जाते हैं। फिर उनके चरित्रादि के विषय में प्रत्यक्ष अनुभव से हम अपनी धारणा बनाते हैं। नाटक और काव्यों की अपेक्षा अधिक सजीव इसलिए कहे गए हैं कि उनमें हम पात्रों से साक्षात् संबंध स्थापित करने में समर्थ होते हैं। नाटकों की उत्पत्ति के विषय में प्रायः आचार्यों की संमति है कि जिस दिन काव्यों में पात्रों की परस्पर बातचीत का आयोजन किया गया उसी दिन नाटकों का सूत्रपात्र हुआ और केवल इसी आधार पर नाटकों का इतिहास लिखते समय लोग वेदों और उपनिषदों तक पहुँचते हैं। इन ग्रंथों के आख्यानों को लेकर यह सिद्धांत प्रतिपादित किया जाता है कि नाटकों का मूल वेदों तथा ब्राह्मण-ग्रंथों में है। यों तो नाटकों का मूल आधार अभिनय है परंतु यह स्वीकार करने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि कथनोपकथन नाटकों का एक महत्व का अंग है। जिन काव्यों में कथनोपकथन की योजना की गई है उनमें नाटकों की-सी प्रत्यक्ष अनुभूति का कुछ-कुछ आनंद हमें प्राप्त होता है।

परंतु किसी काव्य में संवाद देखकर उसके साथ कोई विशेष विशेषण

लगाने की आवश्यकता नहीं जैसा कि उद्धवशतक में संवाद देखकर कुछ लोगों ने अनुभव किया तथा कथनोपकथनात्मक खंड-काव्य नाम की लंबी उपाधि दे डाली। संवादों की योजना उद्धवशतक की अनोखी वस्तु नहीं है। उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत तथा मध्यकाल के काव्य-ग्रंथों में सर्वत्र कम अथवा अधिक मात्रा में संवाद रक्खे ही गए हैं। परंतु कथनोपकथनात्मक महाकाव्य अथवा कथनोपकथनात्मक खंड-काव्य ऐसी उपाधियाँ अभी तक किसी को नहीं सूझीं। हिंदी में भी जायसी, तुलसी, सूर, नंददास इत्यादि अनेकानेक कवियों ने संवाद रखे हैं। जब काव्य में जीवित प्राणियों का प्रवेश होता है तब वे कभी-कभी आपस में कुछ बोल भी लिया करें तो अधिक चौंकने की बात नहीं। यह तो और भी स्वाभाविक प्रतीत होता है।

बातचीत के द्वारा पात्रों के कुल-शील की पहचान बड़ी सुगमता से हो जाती है। जो बात कवि स्वयं कई पृष्ठों में कर सकता है वही बात संवादों के द्वारा थोड़े में की जा सकती है। राम के शील का महत्व तुलसीदासजी ने स्थान-स्थान पर दिखाया है परंतु एक बार जब हम कैकेयी के मुँह से ऐसी बात सुन लेते हैं कि—

तुम अपराध जोग नहिं ताता

तो राम के शील की प्रतिष्ठा हमारे हृदयों में सुंदरता से हो जाती है। कैकेयी की कुटिलता अथवा भरत की 'भायप भगति' के विषय में तुलसीदासजी और ढंग से चाहे जितना भी लिखते परंतु वह बात न हो पाती जो कैकेयी-दशरथ तथा भरत-राम के संवादों-द्वारा सरलता से कर दी गई है।

केशवदासजी ने स्थान-स्थान पर संवाद रक्खे हैं। जहाँ-जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ पर उनका काव्य साधारण भूमि से बहुत कुछ ऊँचा उठ जाता है। केशवदासजी के चरित्र-चित्रण के विषय में लोगों की यह माननीय संमति है कि केशव अपने पात्रों में प्राण-प्रतिष्ठा न कर पाए। वाल्मीकि इत्यादि प्राचीन कवियों के प्रबल-स्वरूप रामायण के

पात्रों के विषय में हमें परंपरा से जो संस्कार प्राप्त हैं वे यदि न होते तो हम केशव के दिए हुए राम भरत इत्यादि से अपने जीवन में कभी भी कुछ संपर्क न स्थापित कर पाते। परंतु जिन-जिन स्थानों पर केशव-दासजी ने पात्रों को स्वयं बोलने का अवसर दिया है वहाँ पात्रों में हम जीवन का पूर्ण स्पंदन पाते हैं।

केशव दरबारी कवि थे। दरबार में कूटनीति तथा राजनीतिपूर्ण बातचीत सुनने-सीखने का अधिक अवसर है। अतः राजनीतिक दाँव-पेंच तथा वाग्वैदग्ध को लिये हुए उनके पात्रों के संवादों की अच्छी योजना की गई है। तुलसी तथा केशव के संवादों में एक प्रत्यक्ष भेद है। केशव ने अपने उन्हीं पात्रों को बोलने का अधिक अवसर दिया है जिन्हें व्यंग्य से बातें कहने तथा कूटनीति के दाँव खेलने की अधिक आवश्यकता थी। जहाँ-जहाँ गंभीर मनोवृत्तियों के चित्रण की आवश्यकता थी वहाँ-वहाँ केशव संवादों को बचा गए हैं। उदाहरण के लिए चित्रकूट में राम-भरत के संवाद तथा दशरथ-कैकेयी के संवादों का अभाव है। तुलसी में एक प्रवृत्ति हम पाते हैं। जहाँ जहाँ राम से संबंध है और पात्र राम के पक्षपाती हैं वहाँ-वहाँ तो उन्होंने बड़ी गंभीरता तथा सहृदयता से काम लिया है; परंतु जहाँ कोई पात्र ऐसा आ जाता है जो राम का विरोधी है तो तुलसीदास उस विरोधी पात्र की मर्यादा पर ध्यान न रख उसे बहुत तुच्छ बना देते हैं। जहाँ उनके सिद्धांत के अनुकूल पात्रों का कथनोपकथन है वहाँ गंभीरता, शील, मर्यादा सब कुछ है परंतु जहाँ दूसरे प्रकार के स्थल हैं वहाँ संवादों में मर्यादा इत्यादि का उतना ध्यान नहीं रखा गया है। जिन परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी क्षत्रिय-रहित कर दी थी तथा जिनके आगे जनक-विश्वामित्र इत्यादि बड़े-बड़े लोग कुछ बोलने का साहस नहीं कर पाते उन्हीं को लक्ष्मण का बार बार मुँह चिढ़ाना उचित नहीं प्रतीत होता। ऐसा जान पड़ता है मानो किसी चिड़चिड़े बुड्ढे को कोई बालक चिढ़ा रहा हो। यह मान भी लिया जावे कि समाज ने चिड़चिड़े बुड्ढों के सुधारने का काम

बालकों के सुपुर्द कर दिया है; फिर भी यह प्रश्न रहो जाता है कि वास्तव में क्या परशुराम ऐसे ही चिड़चिड़े बुड्ढे थे। इसमें संदेह नहीं कि लक्ष्मण का स्वभाव कुछ उग्र था। क्रोध के आवेश में वे यदि परशुराम पर हाथ भी छोड़ देते तो इतना बुरा न लगता जितना उनका मुँह चिढ़ाना। उसी प्रकार रावण-अंगद के संवाद में भी दरबारी शिष्टता, दूतों की मर्यादा तथा रावण के प्रताप की ओर ध्यान न रख तुलसी ने अपने अंगद को बहुत कुछ बहकने दिया है। यह सत्य है कि रावण राम का शत्रु था और राम के भक्तों को उसके प्रति तिरस्कार की भावना रखने का अधिकार है, परंतु यह तो स्मरण रखना ही होगा कि रावण कोई ऐसा वैसा आदमी नहीं। वह इंद्र, कुबेरादि देवताओं से भी सेवा लेनेवाला है। अंगद केवल रावण को समझाने गये थे, उसे दंड देने को नहीं। ऐसी अवस्था में अंगद के ऐसे उद्‌गारों 'मैं तव दसन तोरिबे लायक' से यह प्रकट होता है कि तुलसी को उस समय इस बात का ध्यान नहीं रहा कि यह रावण का दरबार था। आश्चर्य तो इस बात पर और भी होता है कि अंगद रावण के दाँत तोड़ने का आयोजन कर रहा है परंतु रावण यह सब बैठे-बैठे सुन रहा है। यह कह देने से काम न चलेगा कि दूत अवश्य है इसलिए रावण गम खा गया क्योंकि हम देख ही चुके हैं अभी कुछ दिन पहले एक दूसरे दूत हनूमानजी की बड़ी दुर्दशा हो चुकी थी। ऐसी अवस्था में हमें तो यही प्रतीत होता है कि तुलसीदासजी ने रावण के कानों में धीरे से कह दिया होगा कि हम जो कुछ लिखें और हमारा अंगद तुम्हें चाहे कैसी भी सुनावे परंतु तुम टस से मस मत होना। रावण-अंगद-संवाद का अनौचित्य पं० रामचंद्र शुक्ल जी को भी खटका और उन्होंने भी लिखा है—"अंगद और रावण का संवाद राजसभा के गौरव और सभ्यता के विरुद्ध है। पर इसका मतलब यह नहीं कि गोस्वामीजी राजन्यवर्ग की शिष्टता का चित्रण नहीं कर सकते थे। राजसमाज के सभ्य भाषण का अत्यंत सुंदर नमूना उन्होंने चित्रकूट में एकत्र सभा के बीच दिखाया है। पर राक्षसों के बीच

शिष्टता, सभ्यता आदि का उत्कर्ष वे दिखाना नहीं चाहते थे।"

'कुछ खटकनेवाली बातें' शीर्षक देकर यह बात पूज्य शुक्लजी ने लिखी है। इससे प्रतीत होता है कि इसके (संवाद के) अनौचित्य को वे भी स्वीकार करते हैं। चित्रकूट के समाज में राजन्यवर्ग की शिष्टता का चित्रण हुआ है अथवा महात्माओं की शिष्टता का; यह प्रश्न भी विचारणीय है। संभवतः राजकीय शिष्टता का चित्रण तुलसी ने वहाँ पर किया है जहाँ भरे दरबार में बैठे राजा दशरथ जेब में से एक शीशा निकाल अपना मुँह देखने लगते हैं। यह मान लेने में कोई विशेष हानि नहीं कि सब बातें सबके बूते की नहीं। जो तुलसीदास 'बारे ते बिललात डोलत पुनि द्वार-द्वार, जानत हौं चारि फल चार ही चनक को' वाली अवस्था में कुछ दिनों तक रह चुके थे उन्हें बाद की अवस्था में यदि दरबार देखने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ होगा तो टोडर का, और टोडर ऐसे जमींदार प्रायः अब भी पंचायतों में बैठे हुक्का गुड़गुड़ाया करते हैं। ऐसी अवस्था में हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि दरबार में दर्पण देखने की कल्पना तुलसीदास को कहाँ से मिली।

केशव ने जिन-जिन आवश्यक स्थानों पर संवाद नहीं रखे हैं वहाँ पर यदि संवादों की योजना करने का उन्होंने प्रयत्न भी किया होता तो वे अवश्य सफल हुए होते। परंतु बड़ी चतुराई से उन्होंने उन्हीं स्थलों को चुना है जो उनकी प्रकृति तथा योग्यता के अनुकूल पड़े हैं। चंद्रिका में ये संवाद मुख्य हैं—

१	रावण-बाणासुर-संवाद	५	रावण-हनूमान-संवाद
२	राम-परशुराम ,,	६	रावण-अंगद ,,
३	परशुराम-बामदेव ,,	७	सीता-रावण ,,
४	कैकेयी-भरत ,,	८	लवकुश-विभीषणादि संवाद

इन संवादों में कुछ तो बहुत छोटे हैं, जैसे, रावण-बाण-संवाद। राम-परशुराम-संवाद तथा रावण-अंगद-संवाद पर्याप्त लंबे हैं। परशुराम और राम के संवाद में राम की गंभीरता, वृद्धों के प्रति श्रद्धा, संकोच तथा

उचित संयत भाषा का प्रयोग इत्यादि सब बातें बड़े कौशल से रक्खी गई हैं। तुलसीदास के लक्ष्मण का प्रतिनिधित्व यहाँ पर भरत करते हैं। परंतु भरत की स्वाभाविक गंभीरता के कारण परशुराम के महत्त्व की बहुत रक्षा हो गई है। परशुराम के क्रोध को देख वे नम्रता बनाए रखते हैं और इस प्रकार उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं—

जिनको सुभनुग्रह बृद्धि करै। तिनको किमि निग्रह चित्त परै।
जिनके जग अच्छत सीस धरै। तिनको तन सच्छत कौन करै॥

एक बार अवश्य लक्ष्मण के मुँह से ऐसी बात निकल गई 'अपनी जननी तुमहीं सुख पाय हतो' परंतु वह भी तब हुआ जब दोनों ओर से कहा-सुनी होते-होते बात बहुत कुछ बढ़ चुकी थी। राम भी परशुराम के प्रति अपनी श्रद्धा तथा नम्रता बनाए रखते हैं—

कंठ कुठार परै अब हार कि फूलै असोक कि सोक समूरो।
कै चितसारि चढ़ै कि चिता तन चंदन चर्चि कि पावक पूरो॥
लोक में लोक बड़ो अपलोक सु केसवदास जु होउ सु होऊ।
बिप्रन के कुल को भृगुनंदन! सूर न सूरज के कुल कोऊ॥

परशुराम भी राम को शील-समुद्र इत्यादि कहते जाते हैं। परंतु धीरे-धीरे दोनों ओर स्वाभाविक ढंग से क्रोध का विकास होता चला जाता है और परशुराम के मुँह से 'राम सुबंधु सँभारि, छोड़त हौं सर प्रान हर। देहु हथ्यारन डारि हाथ समेतनि बेगि दै' निकलते ही राम भी यह कहते हुए सुने जाते हैं—

भृगुनंद सँभारु कुठार मैं कियो सरासन-युक्त सर।

राम और परशुराम दोनों आदि से अंत तक एक दूसरे की मर्यादा का समुचित ध्यान रखते हैं और उत्तर-प्रत्युत्तर के क्रम से क्रोध का विकास बड़े उपयुक्त ढंग से हुआ है। परशुराम राम से कुछ कहने के स्थान में बार बार अपने कुठार को संबोधित करके कहते हैं—

मेरो कह्यो करि मित्र कुठार, जु चाहत है बहु काल जियोरे।
तौ लौं नहीं सुख जौ लगि तू रघुबीर को स्रौन-सुधा न पियोरे॥

परशुराम को कुठार पर बड़ा भरोसा था, अतः उसे मित्र कहना बहुत स्वाभाविक हुआ है। राम पर क्रोध करने के स्थान में जड़ वस्तु को आक्रमण के लिए उसकाने में क्रोध की जो व्यंजना है वह बहुत उग्र है। जब राम भोले बनकर कहते हैं—'सो अपराध परयो हम सों अब क्यों सुधरै तुमहीं तौ कहौ'। तो परशुराम धीरे-से उतने ही नम्र शब्दों में कह देते हैं—'बाहु दै दोष कुठारहि केशव आपने धाम कौ पंथ गहौ।'

परशुराम-राम के संवाद के पहले एक छोटा-सा संवाद परशुराम और वामदेव का हुआ था जो बहुत ही व्यंग्ययुक्त तथा वक्रतापूर्ण है। परशुराम पूछते हैं कि न जाने ये कौन से राम हैं। अपने इस अज्ञान के द्वारा वे यह प्रकट करना चाहते हैं कि राम कोई तुच्छ व्यक्ति हैं जिन्हें परशुराम जानते भी नहीं परंतु वामदेव उत्तर देते हैं कि ये वे ही प्रतापी राम हैं जिन्होंने ताड़का का वध किया था। यह सुनते ही परशुराम कहते हैं कि इसमें राम की कौन-सी बड़ाई हुई। इसका भी विचार नहीं किया कि वह बेचारी स्त्री थी। राम पर आक्षेप होते ही बड़े सुंदर ढंग से राम का महत्त्व तथा प्रताप प्रतिपादित करते हुए वामदेव कहते हैं—

मारीच हुतो सँग, प्रबल सकल खल अरु सुबाहु काहू न गने।
करि क्रतु रखवारी, गुरु सुखकारी, गौतम की तिय सुद्ध करी।
जिन हर-धनु खंड्यो, जग जस मंड्यो, सीय स्वयंवर माँझ बरी।

उसी प्रकार अंगद-रावण-संवाद में दोनों ओर से मर्यादा का ध्यान रक्खा गया है। अंगद यह कभी नहीं भूलते कि हम दूत बनकर आए हैं और एक बड़े प्रतापी राजा रावण के सामने खड़े हैं। रावण भी एक ओर अपना प्रताप दिखाता है दूसरी ओर राम की तुच्छता और साथ-ही साथ कूटनीति से यह भी प्रयत्न करता चलता है कि अंगद के हृदय में राम के प्रति द्वेषाग्नि भड़का अपने पक्ष में मिला लिया जावे। अंगद यद्यपि कभी आवेश में नहीं आते परंतु देखने में नम्र पर उग्रभावगर्भित वाणी से रावण को उत्तर भी देते चलते हैं, साथ-ही-साथ उसके दावों को भी बचाते चलते हैं। अंगद रावण की मर्यादा का इतना ध्यान रखते हैं

कि रावण की महारानी मंदोदरी के साथ 'देवि' शब्द लगाना भी नहीं भूलते—

देवि मंदोदरी कुंभकर्नादि दै। मित्र मंत्री जिते पूछि देखौ सबै।

तुलसीदास की तरह अंगद के द्वारा रावण को यह उपदेश भी नहीं दिया गया है कि तू दाँतों में तृण दबा, गले में कुठार लटका (ढोल बजाता हुआ) राम की शरण में जा। बस वहाँ अंगद इतना ही उपदेश देते हैं—

राखिए जाति को पाँति को बंस को।
गोत को साधिए लोक परलोक को॥
आनि कै पाँ परौ देस लै कोस लै।
आजु ही ईस सीता चलै ओक कौ॥

इस पर रावण भी बड़े व्यंग्य से सरल शब्दों में उत्तर देता है—

ताहि हौं छोड़ि कै पायँ काके परौं। आजु संसार तौ पायँ मेरे परै॥

तुलसीदास के अंगद बिना प्रसंग के बालि इत्यादि की कोख में रावण के दबे रहने की कथा सुनाने लगते हैं और एक श्रद्धालु श्रोता की तरह रावण भी ध्यानावस्थित होकर सुनता रहता है। केशव ने भी इनमें से बहुत सी बातों की ओर संकेत किया है किंतु बिना पूछे नहीं। उत्तर-प्रत्युत्तर के क्रम से बातों की धारा को ऐसी चतुराई से मोड़ा है कि कहीं कृत्रिमता भी नहीं आने पाई है और रावण का अपमान भी हो गया है। इसी सवैये में सहस्रार्जुन के द्वारा रावण के बंधन का जिक्र कैसे किया गया है—

राम को काम कहा? रिपु जीतहिं, कौन कबै रिपु जीत्यौ कहाँ?
बालि बली, छल सौं, भृगुनंदन गर्व हर्‍यो, द्विज दीन महा॥
दीन सु क्यों छिति छत्र हत्यौ बिन प्राणन हैहयराज कियो।
हैहै कौन? वहै बिसर्‍यो जिन खेलत ही तोहि बाँधि लियो॥

इसी प्रकार बाणासुर की दासियों के द्वारा रावण की जो दुर्दशा की गई थी वह भी स्वयं रावण के प्रश्न के उत्तर में कह दी गई है। रावण

पूछता है कि वह बाणासुर कौन है ! अंगद कहते हैं वे बली बलि के पुत्र हैं। रावण तिरस्कार तथा उपेक्षा से कहता है कि अरे वही न बलि जिसे वामन ने बाँध लिया था ! अंगद भी बड़े धीरे से कहते हैं—

वेई सु तौ जिनकी चिर चेरिन नाच नचाइ कै छाँड़ि दियौ।

इन बातों से अपनी धाक जमते न देख रावण अंगद की पीठ ठोंकने लगता है। बालि-वध की याद दिलाकर उसे भड़काने का प्रयत्न करता है—

तोसे सपूतहिं जाइके बालि अपूतन की पदवी पगु धारे।
अंगद संग लै मेरो सबै दल आजुहि क्यों न हतै बपु मारे॥

परंतु इन सब बातों से अंगद रावण के पंजे में नहीं आ पाता। फिर भी रावण अपनी कूटनीति को नहीं छोड़ता और इस प्रकार की शर्तें सीता देने के लिए पेश करता है—

देहिं अंगद राज तो कहँ मारि बानर-राज को,
बाँधि देहि बिभीषनहिं अरु फोरि सेतुसमाज को।

पूँछ जारहिं अच्छरिपु की पायँ लागहिं रुद्र के,
सीय को तब देहुँ रामहिं पार जायँ समुद्र के॥

पर इस राज्य पाने की आशा से अंगद डिगते हुए नहीं प्रतीत होते।

कथनोपकथन में प्रायः इस बात का भय रहता है कि कवि अपने पात्रों के पीछे खड़े होकर स्वयं न बोलने लगे। कभी-कभी तो कवि पात्रों के दाएँ-बाएँ झाँकता हुआ भी दृष्टि-गोचर होता है। तुलसीदासजी के बहुत से पात्रों की भलमंसी की बात-चीत में कवि के साधु-स्वभाव की छाप स्पष्ट लक्षित होती है। परंतु केशव ने अपने पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं का निर्वाह कथनोपकथन में बड़े कौशल से किया है। यह बात दूसरी है कि अन्य स्थानों पर त्रुटियाँ रह जाने से उनके पात्रों में उतनी सजीवता नहीं आने पाई।

केशव के संवाद नाटकीय अभिनय के बहुत उपयुक्त पड़ते हैं। इसीलिए जहाँ-जहाँ रामलीला होती है वहाँ यद्यपि तुलसी की रामायण

का आश्रय लिया जाता है परंतु संवाद केशव के ले लिए जाते हैं। रामलीला में केशव के संवादों का उपयोग पूर्वी नगरों में उतना नहीं होता क्योंकि रामचंद्रिका का प्रचार इधर नहीं है परंतु झाँसी के आस-पास एक बड़े प्रांत में तथा उत्तर की ओर रुहेलखंड तथा बैसवाड़े तक रामलीलाओं में रामचंद्रिका के संवाद काम में लाए जाते हैं।

अलंकार

'भूषन बिन न बिराजई कबिता बनिता मित्त'

—केशव।

रूपक के आधार पर कविता को वनिता या कामिनी कह इस युक्ति से अलंकारों का समर्थन किया जाता है कि जिस प्रकार कामिनी की शोभा बिना अलंकारों के नहीं होती उसी प्रकार कविता-वनिता भी अलंकारों के बिना रमणीय नहीं होती। इस रूपक को ही आधार मान यदि हम कुछ और आगे बढ़ें तो देखेंगे कि स्त्रियों की शोभा सदा अलंकारों से बढ़ती ही नहीं है। कंचन तथा विभिन्न मणियों से बने हुए आभूषण भी यदि सौंदर्य के सच्चे सामंजस्य का बिना विचार किए धारण किए जाते हैं तो सौंदर्योत्कर्ष में सहायक होने के स्थान पर वे शोभा की और भी क्षति ही करते हैं। बिहार प्रांत की रमणियाँ मुँह ढक लेनेवाले नकबेसर को तथा मारवाड़ की स्त्रियाँ बेड़ी-सी प्रतीत होती पैर की कड़ियों को संभवतः अधिक सुंदर लगने के लिये ही धारण करती होंगी। पर इससे क्या शोभा की वास्तविक वृद्धि होती है? माथे पर सिंदूर की बुँदकी शृंगारों में मानी गई है और संभवतः इससे शोभा की वृद्धि होती भी है। बिहारी तो इस शोभा पर मुग्ध होकर गणित-शास्त्रियों को शास्त्रार्थ के लिये आवाहन करने लगते हैं और उनसे साफ कह देते हैं कि तुम्हारा गणित-शास्त्र झूठा है। यह कहना कि बिंदु लगाने से अंक

दसगुणित हो जाता है नितांत असत्य है, क्योंकि 'तिय लिलार बेंदी दिए अगनित होत उदोत' परंतु यह सुंदर सिंदूर-बिंदु भी जब बिहारी रमणियों के माथे पर डबल पैसे के आकार में विराजने लगता है तो उससे संभवतः सौंदर्य में कुछ अधिक उत्कर्ष नहीं होता। अतः आभूषण और शृंगार की वस्तुएँ सर्वदा शोभा की वृद्धि में सहायक होंगी ऐसा कहना युक्ति-संगत नहीं। इन सौंदर्य के उपकरणों की समुचित योजना करने के लिये एक कला की आवश्यकता है और ये उपकरण तभी सौंदर्योत्कर्ष में सहायक हो सकते हैं जब वे उचित पात्र पर सजाए गए हों। यदि रमणी सुंदरी नहीं है, यदि वह बाणभट्ट द्वारा वर्णित उस कापालिक द्रविण की प्रेयसी है, तो उसके अंगों पर अलंकार केवल व्यर्थ ही नहीं होते, खेद भी उत्पन्न करते हैं। भयंकर स्त्री को हम करुणा के विचार से, दया के विचार से, सामाजिक संगठन के विचार से समाज में रहने तो अवश्य देते हैं परंतु यदि वह आभूषणों से अपने को सुसज्जित कर हाव-भाव दिखाने का प्रयत्न करती है तो वह हमारे हृदयों से बची बचाई सहानुभूति भी खो देती है।

आग्नेय पुराण में व्यासजी ने कहा है कि "अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्। वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्।" अर्थात् सौंदर्य की वृद्धि के लिये अलंकृत काव्य भी निर्गुण नहीं होने चाहिए क्योंकि असुंदर स्त्री के शरीर पर हार भी अत्यंत भारस्वरूप हो जाता है। इस हार के भार का अनुभव वह स्त्री तो न करती होगी परंतु इसकी पीड़ा, इसका भार बेचारे सहृदयों को झेलना पड़ता है और फिर यदि किसी कामिनी के निष्प्राण शरीर पर आभूषण लाद दिये जावें तो क्या इसमें सहृदयता या शोभा मिल सकेगी? इसी प्रकार कविता के यदि प्राण नहीं हैं, यदि उसमें रस नहीं है, यदि वह मानव हृदय की रागात्मक वृत्तियों को जागरित कर, शेष सृष्टि के साथ भाव-बंधन में नहीं बाँधती तो वह मृत है, निष्प्राण है। ऐसी कविता पर लादे हुए अलंकार निर्जीव स्त्री के अलंकारों ही की तरह व्यर्थ ही नहीं किंतु उन अलंकारों की योजना करने-

चाले को भी उपहास के योग्य बनाते हैं। कविता को चाहे वनिता बनाया जावे, चाहे कामिनी; परंतु यह रूपक व्यर्थ की आलंकारिक योजना का समर्थन नहीं करता। और स्थलों पर स्वयं केशव ने भी यह स्वीकार किया है कि यदि वास्तविक सौंदर्य हो तो बहिरंग अलंकार अनावश्यक ही हैं। वे किसी स्त्री से कहते हैं—

भृकुटी कुटिल जैसी तैसी न करेउ होहिं,
आँजो ऐसी आँखें केसवराय हिय हारे हैं।
काहे को सिंगारि कै बिगारति है मेरो आली,
तेरे अंग बिना ही सिंगार के सिंगारे हैं॥

तथा—

'गति को भार महावरै, आँगि अंग को भार,
केसव नख-सिख सोभिजै शोभा ही शृंगार।'

इन स्थलों पर केशव व्यास, मम्मटादि से सहमत होते प्रतीत होते हैं परंतु अपने कविता-वनिता के रूपक में अधिक मग्न होने से उन्हें अपनी कविता में संभवतः यह बात याद नहीं रहती थी। केशवदासजी के समान व्यर्थ की अलंकार-योजना का आग्रह करनेवाले लोग व्यासजी के इस प्रसिद्ध वचन का हवाला देते हैं—'अर्थालंकार-रहिता विधवेव सरस्वती' परंतु व्यर्थ के अलंकारों के पक्ष में व्यासजी स्वयं नहीं थे जैसा कि उनके इस वचन से प्रतीत होता है। 'अलंकरणमर्थानामर्थालंकार इष्यते' अर्थात् जो सामग्री कविता के अर्थ को, भाव को अलंकृत करे, सजावे उसे अर्थालंकार कहते हैं। इस सामग्री की योजना कर देने ही से अलंकारत्व, भावोत्कर्ष, नहीं हो जाता। इसके लिये तो एक विशेष कला की, एक विशेष विदग्धता की सहृदय अनुभूति से उत्पन्न एक विशेष कौशल की आवश्यकता है। यह कला, यह विदग्धता, यह कौशल गिनाए हुए उपमा, उत्प्रेक्षा, अपन्हुति इत्यादि के कटघरे ही में नहीं बंद रहता। टेढ़ी-सीधी न जाने कितनी शैलियों का अनुसरण करता हुआ कवि अपने आश्रय अर्थात् पाठकों के हृदय में रसोद्रेक करने में समर्थ होता है। इन

संपूर्ण शैलियों का नामकरण न हुआ है, न हो सकता है। उपमा, उत्प्रेक्षादि गिनाए हुए अलंकार तो कवियों के लिये केवल संकेत मात्र हैं। सहृदय कवि अपने हृदय की तह से निकाल-निकालकर न जाने कितने प्रकार से चमत्कार-विधान करता हुआ भावों को, रसों को, उच्च भूमि पर, धीरे-धीरे पाठकों को चढ़ाता ले जाता है।

केशवदासजी कविता-कामिनीवाले रूपक का अनुचित लाभ उठानेवाले प्रतीत होते हैं। वे कोरे चमत्कारी कवि हैं। बड़ी कठोरता के साथ अपने इस सिद्धांत का निर्वाह उन्होंने अपने काव्यों में आद्योपांत किया है। जब कभी कुछ क्षणों को वे आलंकारिक आवेश में नहीं रहते थे तो उनकी लेखनी से स्वाभाविक अलंकारों की योजना हो जाती थी। यह योजना स्थान-स्थान पर अत्यंत काव्योपयुक्त हुई है और उससे यह प्रतीत होता है कि यदि केशव को आलंकारिक चमत्कार का कठोर आग्रह न होता तो हम रामचंद्रिका के लेखक से एक श्रेष्ठतर कवि को हिंदी भाषा में पाते। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी। भरत के ननिहाल से आने का समाचार सुनकर सब माताएँ छटपटाती हुई, उत्सुक, तथा आकुल होती हुई उनसे मिलने को जाती हैं—

मातु सबै मिलिबे कहँ आईं। ज्यौं सुत को सुरभी सुलवाई॥

गाएँ—सद्यप्रसूता—अपने बछड़ों को चाटने को तथा उन्हें पय-पान करने को छटपटाती हुई दौड़ती हैं। इस सर्व-सुलभ दृश्य को लेकर केशवदासजी ने बड़ी सुंदर आलंकारिक योजना की है। यह आलंकारिक योजना भावोत्कर्ष में केवल सहायक ही नहीं होती, भावोत्कर्ष का अनिवार्य अंग है।

रामचंद्रजी ने हनूमानजी के द्वारा सीताजीकी लाई हुई मणि पाई है।

श्री रघुनाथ जबै मनि देखी। जो महँ भाग-दशा सम लेखी॥
फूलि उठ्यो मन ज्यौं निधि पाई। मानहुँ अंध सुदीठि सुहाई॥

यहाँ पर जैसा कि केशव ने और स्थलों पर किया है, भगवान् के रंग तथा मणि के रंगों को लेकर उत्प्रेक्षा, संदेह इत्यादि अलंकारों की

कड़ी नहीं बाँधी। उनकी दृष्टि केवल बाहरी रंगरूप पर नहीं डटी रही। उन्होंने भगवान् रामचंद्र के हृदय में होनेवाले आनंद का सहृदयता से अनुभव कर अपने आस ही पास मिलनेवाले प्राकृतिक पदार्थ की सहायता से भाव-व्यंजना की है। अंधे को आँखों से अधिक क्या नियामत है! उन्हें पाकर न जाने वह कैसा निहाल हो जायगा! राम भी सीता के वियोग में व्याकुल होकर क्या करें क्या न करें, कर्त्तव्य-विमूढ़ हो अंधे-से हो रहे थे। अब मणि मिलने से उन्हें अत्यंत आनंद हुआ। अंधे को आँखें मिलने से मार्ग दिखाई पड़ने लगता है। राम को भी मणि पाने से सीता का वास्तविक पता लग गया और उनको पाने का—उनके आगे के प्रयत्न का—मार्ग भी साफ और स्वच्छ हो गया।

आलंकारिक योजना कभी तो भाव की गंभीरता प्रकट करने को, कभी स्वरूप को स्पष्ट करने को, कभी भाव और स्वरूप दोनों की एक साथ व्यंजना करने को की जाती है। ऐसी योजना, भाव और स्वरूप दोनों के एकत्र उपमान प्रकृति में प्रायः एकत्र नहीं मिलते। एक उदाहरण। पुत्रों के मरने का समाचार सुन सगर की स्त्रियाँ व्याकुल हो तड़प रही हैं। अब यहाँ पर एक प्रस्तुत तो उनके हृदय की विकलता है दूसरा उनके उद्वेगपूर्ण तड़पने की मुद्राएँ। यदि कोई कवि उनके तड़पने ही पर दृष्टि रख अप्रस्तुत योजना कर दे तो इसमें उसकी कितनी ही दूर की सूझ क्यों न हो—वास्तविक सहृदयता नहीं है ऐसा कहना होगा। पर यदि वह स्वरूप की उपेक्षा कर जाने और हृदय की व्याकुलता को आलंकारिक योजना से स्पष्ट करने में समर्थ हो तो हम कवि के वर्णन में जो कुछ त्रुटि रह गई है उस पर ध्यान भी नहीं देते। पर जिन्होंने स्वरूप और भाव दोनों पर दृष्टि रख सहृदयता से अपने विस्तृत प्रकृति-निरीक्षण के बल पर आलंकारिक योजना की है, वे वास्तव में प्रशंसनीय हैं। उक्त स्थल पर 'रत्नाकर' जी ने लिखा है—

"लागीं खान पछार धाड़ मारन सब रानी।
मानहु माजा मजि तलफि सफरी अकुलानी॥"

ऐसा ही तुलसीदास इत्यादि और सहृदय कवियों ने किया है। केशवदास ऊपरी रंग-रूप पर अधिक दृष्टि रखते थे। हृदय के भावों को आलंकारिक ढंग से व्यक्त करने की ओर उनका उतना ध्यान नहीं रहता था। फिर भी दो-चार इने-गिने स्थलों पर ऐसी भाव-व्यंजना उनके द्वारा हो ही गई है। दो-एक उदाहरण। दशरथ की मृत्यु के बाद जब भरत महल में आते हैं तो वे माताओं को निरालंब, अकेली पाते हैं—

मंदिर मातु बिलोकि अकेली। ज्यों बिन वृच्छ विराजति बेली॥

यद्यपि वृक्ष से अलग होने पर लता को कोई विशेष मानसिक वेदना न होती होगी परंतु उसकी कुम्हिलाई तथा मुरझाई दशा को देखकर कवि कल्पना के द्वारा लता में वियोग-जन्य विकलता की अनुभूति की कल्पना कर लेता है। जिस प्रकार वृक्ष लता के लिए आधार है, अवलंबन है, उसी प्रकार पति स्त्री का। लता से शरीर की उपमा बड़ी सहृदयतापूर्ण भी है। लता और वृक्ष के संबंध को स्त्री-पुरुष के संबंध के साथ सहृदय सदा से नियोजित करते आए हैं। नेपाली कवि गोपालसिंह ने 'पीपल' नाम की कविता में लिखा है—

"जहाँ वल्लरी का बंधन, बंधन क्या दृढ़ आलिंगन,
आलिंगन भी चिर-आलिंगन"

यहाँ वल्लरी का वृक्ष के साथ बंधन कह फिर आलिंगन की ओर पाठकों का ध्यान ले जाना इसी बात को स्पष्ट सूचित करता है कि कवि अपनी भावुकता से वल्लरी तथा वृक्ष में ऐसे हृदयों का होना कल्पित कर लेता है जिनमें हमारे ही ऐसा सुख-दुख का स्पंदन संयोग तथा वियोग से होना संभव है।

हनूमान्‌जी ने जब लंका में जाकर सीता को देखा तो वे कैसी लगती थीं?

धरे एक बेनी मिली मैल सारी। मृनाली मनौ पंक तें काढ़ि डारी॥

पंक से निकालकर फेंकी हुई मृणाली कैसी दीन-सी पड़ी रहती है। उसी प्रकार सीता भी अपने आश्रम से च्युत होकर शत्रु के हाथों में पड़ी हुई हैं। 'पंक' शब्द भी यहाँ कुरुचिपूर्ण नहीं कहा जा सकता क्योंकि यहाँ वह मैली साड़ी का आभास दे रहा है। यदि मैली साड़ी की ओर कवि की दृष्टि न होती तो वह पंक शब्द को बचा भी सकता था और "मृनाली मनौं बारि तें काढि डारी" इत्यादि कह किसी प्रकार से काम चला लेता।

अब कुछ उदाहरण हम केशव में-से ऐसे लेंगे जहाँ भावों को व्यक्त करने की कवि को या तो आवश्यकता ही नहीं थी अथवा कवि की दृष्टि उधर नहीं गई। प्रकृति के रमणीय दृश्यों का ही वर्णन कवि लोग आलंकारिक युक्तियों से करते हैं। यद्यपि ये प्राकृतिक वस्तुएँ स्वयं उपमानरूप में व्यवहृत होती हैं परंतु इससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इन उपमानों के भी उपमान नहीं हो सकते। जब कवि किसी नायिका के मुख की प्रशंसा करता है तो वह उत्प्रेक्षा, अपह्नुति इत्यादि किसी अलंकार के ढंग से चंद्रमा, कमल इत्यादि की ओर ध्यान ले जाता है। वहाँ पर कवि का वर्ण्य विषय नायिका का मुख होता है और चंद्रमा इत्यादि उपमान। परंतु यदि चंद्रमा इत्यादि को ही वर्ण्य मानकर कवि इनका वर्णन करे तो इनके लिए भी उपमान प्रस्तुत किए जा सकते हैं। ऐसे प्राकृतिक वर्ण्यों में, वर्णन करने योग्य दृश्यों में, हृदय-पक्ष, भाव-पक्ष नहीं होता। थोड़ी देर को छायावादियों के नाम से पुकारे जानेवाले उन कवियों को हम छोड़ देते हैं जो किसी वाद का सहारा ले अपने हृदय की भावनाओं को प्रकृति के ऊपर थोपा करते हैं। हाँ, इतना निवेदन इन लोगों से भी कर देना अनुचित न होगा कि कभी-कभी हृदयों को इस बात की अनुभूति तो अवश्य होती है कि यह चारो ओर फैला हुआ प्रकृति का आवरण हृदय भी रखता है। परंतु यह भावना अस्पष्ट शब्दों में कुछ मधुर संकेतों द्वारा व्यक्त-सी की जा सकती है। अपनी भावनाओं का प्रतिबिंब प्रकृति में देखकर प्रकृति के द्वारा

लंबी-लंबी शिखाएँ दिखाना 'रहस्यवाद' तो नहीं कहा जा सकता। अधिक-से-अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि कुछ ऐसा है। पर कैसा है, यह कैसे कह पावें? रहस्य तो रहस्य ही न रहेगा! पीपल के चंचल पत्तों को देख कवि को कुछ ऐसा आभास होता है कि जैसे वे भी कुछ हृदय रखते हैं और अपने मन की चंचलता पत्तों से प्रकट करते हैं—

'पीपल के पत्ते गोल-गोल। कुछ कहते रहते डोल-डोल॥'

यहाँ पर वे क्या कहते हैं कवि इस बात की कल्पना नहीं करता। बस, केवल अपने हृदय की रहस्यमय अनुभूति के द्वार पर पाठक को पहुँचा देता है। बात कुछ अप्रासंगिक तथा विस्तृत हो गई। हमारा वास्तविक प्रसंग तो ऊपर छूट गया जहाँ हम यह कह रहे थे कि प्राकृतिक दृश्यों का आलंकाररिक ढंग से वर्णन करते समय हृदय पक्ष के चित्रण की या भावों को व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि इन रहस्यवादियों और वेदांतियों को छोड़ प्रायः कविगण फूल, पेड़, पौधे इत्यादि में हमारे-से हृदय का होना अत्यंत आवश्यक नहीं समझते। ऐसे स्थानों पर कवि का काम कुछ सुकर हो जाता है क्योंकि अब उसे ऐसे उपमान अर्थात् अप्रस्तुत नहीं उपस्थित करने होते जिनमें भावों और दृश्यों की एक साथ संश्लिष्ट योजना हो पर इन दृश्यों के चित्रण में भी कवि में सहृदयता अपेक्षित है। कुछ उदाहरण नीले वस्त्रों को पहिरे हुए एक स्त्री को देख वे कहते हैं—

नील निचोलन को पहिरे यक चित्त हरै।
मेघन की दुति मानहुँ दामिनि देह धरै॥

यह प्रकृति-सुलभ पदार्थों में से ही चुनकर लाए हुए कुछ उपमानों द्वारा की हुई उत्प्रेक्षा है। मेघ और बिजली के नाम से हमारा ध्यान केवल नीले पीले रंग ही की ओर नहीं जाता। वर्षा ऋतु में नीचे को झुके हुए नीले-पीले बादलों के बीच लपकते हुए कौंधे की ओर जाता है यह दृश्य अत्यंत भावोद्रेककारी है। इसका उपयोग तुलसी, बिहारी, सूर इत्यादि अनेक सहृदय कवियों ने किया है। सूर तो इसे बार-बार प्रयुक्त

करने में भी ऊबते नहीं। परंतु बार-बार प्रयुक्त होने से भी प्रकृति के ये सुंदर दृश्य कभी बासी नहीं होते। उनका आनंद जैसा का तैसा ही बना रहता है। सृष्टि के आदिकाल से हम इन नीली-पीली वस्तुओं को देखते चले आए हैं और न जाने कब तक हम तथा हमसे आगे आनेवाली पीढ़ियाँ इन्हें देखेंगी, इनपर मुग्ध होंगी।

त्रिवेणी के संगम पर जहाँ श्वेत, नील तथा लाल रंग की गंगा, यमुना और सरस्वती नदियाँ मिलती हैं, केशव कहते हैं—

जमुना को जल रह्यो फैलि कै प्रवाह पर,
केसौदास बीच-बीच गिरा की गोराई है।
सोभन सरीर पर कुंकुम बिलेपन कै,
स्यामल दुकूल झीन झलकति झाईं है॥

इस गम्योत्प्रेक्षा के द्वारा केशव कैसा सुंदर दृश्य सामने लाते हैं! तुलसीदासजी ने भी कहा है—

सोहै सितासित को मिलिबो तुलसी हुलसै हिय हेरि हिलोरैं।
मानो हरे तृन चारु चरैं बगरे सुरधेनु के धौल कलोरैं॥

इस उत्प्रेक्षा के द्वारा रंगों के लिये बड़े सुंदर, मनोरम, उपमान लाए गए हैं परंतु लहरों की चमक तथा एक रंग के दूसरे रंग में मिलने से झाईं का उपमान तुलसी की उत्प्रेक्षा में नहीं आ पाया। यह केशव ने 'स्यामल दुकूल झीन झलकति झाईं'' के द्वारा पूरा किया।

घोर काले बादल उनए हुए हैं और उनके नीचे श्वेत बगुलों की पंक्तियाँ उड़ रही हैं। इसपर कवि उत्प्रेक्षा करता है—

सोहै घन स्यामल घोर घने। मोहै तिन मैं बकपाँति मनै॥
संखावलि पी बहुधा जल स्यों। मानो तिन को उगिलैं बल स्यों॥

समुद्र के पानी से मेघ बनते हैं और समुद्र के किनारे-किनारे ढेर-के-ढेर शंख पड़े ही रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः जल के साथ बादल शंखों को भी पी गए और अब यहाँ उनको उगल रहे हैं।

शंखों और बगुलों के रंगों में कैसी एकरूपता है ! वास्तव में दूर की सूझ ऐसे ही स्थलों पर कही जा सकती है। जब पानी पीकर फिर मुँह के द्वारा बाहर किया जाता है तो वहाँ 'उगिलैं' शब्द ठीक भी है और इससे वास्तविक सुंदरता के वातावरण में अधिक बाधा नहीं पड़ती। परंतु वास्तविकता की हठ पकड़ यदि 'उगलने' के स्थान में कवि 'वमन करना' लिखता तो भावों में बड़ा विरोध हो जाता। कहाँ तो मेघों का सुंदर दृश्य और कहाँ वमन की कुरुचिपूर्ण बात। पर दुर्भाग्यवश केशव सदा ऐसी बातों को बचा नहीं पाए हैं। एक जगह पर स्नान करके खुले हुए बालों को निचोड़ने का वर्णन करते हुए केशव कहते हैं—

केसनि ओरनि सीकर रमैं। स्रवन को तमयी जनु बमैं॥

काले-काले बालों से पानी की बूँदें टपक रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों रात्रि तारों का वमन कर रही है। यदि वमन की ओर हम ध्यान न दें, तो यह आलंकारिक योजना अत्यंत सुंदर है। पर इसकी ओर ध्यान न जाना असंभव है। मेघ शंखवाले उदाहरण में केशव इस बात को बचा गए हैं परंतु दूर की सूझ के फेर में उन्हें इस बात का अधिक ध्यान नहीं रहता था।

चंद्रमा को आकाश में देख केशव कहते हैं—

फूलन की सुभ गेंद नई है। सूँघि सची जनु डारि दई है॥

वास्तव में चंद्रमा आकाश के मैदान में एक सुंदर बड़ी गेंद-सा—आजकल के फुटबालों जैसा—प्रतीत होता है, परंतु शची में यदि इतनी उदारता थी कि वे फूलों का व्यय अथवा अपव्यय गेंद बनवाने में कर सकती थीं तो यही अच्छा होता कि वे सूँघने के लिए नंदन-कानन से कुछ फूल चुनवा मँगाती। गेंद सूँघना कुछ अधिक अच्छा प्रतीत नहीं होता। शची के स्थान में इंद्र का लड़का उस फूलों की गेंद में एक 'किक' मारने आ जाता तो गेंद के खेलाड़ी इसे एक अच्छी उत्प्रेक्षा कहते। 'परिणाम' अलंकार की सहायता से कवि उपमानों से वह काम ले लेते हैं जो उपमेय को करना चाहिए था, जैसा 'तुलसी' ने लिखा है—

कर-कमलन धनु-सायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥

धनुष-बाण कमल नहीं फेर सकते, इसके लिये हाथ ही अपेक्षित हैं और कर-कमल के रूपक को यदि हम खोलकर यों कहें कि कमलरूप हाथों से धनुषबाण फेर रहे हैं तो परिणाम अलंकार भी अपने महत्व को बहुत कुछ खो देता है। पर केशव के गेंदवाले उदाहरण में यह बात नहीं। वहाँ तो केशव उत्प्रेक्षा कर रहे हैं और उसके अंदर भी कोई ऐसी रूपक की योजना नहीं है जिसको स्पष्ट कर देने से गेंद सूँघने के काम में आ सके।

केशव के अलंकारों में चाहे उतनी सहृदयता न मिलती हो परंतु यह मानना पड़ेगा कि उनकी सूझ तथा प्रतिभा विस्तृत एवं गंभीर थी। एक-एक दृश्य को लेकर उत्प्रेक्षा, संदेह, रूपक की झड़ी-सी बाँध देते हैं। दशरथ के प्रासाद पर फहराती हुई ध्वजा का वर्णन, वर्षा ऋतु का वर्णन, भरत की सेना का वर्णन, लंका में आग लगने के समय का वर्णन, चंद्रमा का वर्णन, सीता के अग्नि-प्रवेश का वर्णन इत्यादि ऐसे स्थल हैं जहाँ एक के बाद एक आलंकारिक योजना करने में केशव थकते नहीं। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर आलंकारिक योजना की ही नहीं जा सकती परंतु केशव आकाश-पाताल को छानकर कुछ ऐसी अप्रस्तुत योजना कर देते हैं कि हमें चकित रह जाना पड़ता है। कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें से केशव अपनी उत्प्रेक्षा की सामग्री न खोज लाते हों। देखिए—

कबहूँ मुख देखति दर्पन लै, उपमा मुख की सुखमा परसै।
जनु आनँदकंद ज्ञु पूरनचंद, दुखी रबिमंडल मैं दरसै॥

जब सूर्य के उदय होते ही चंद्रमा की ज्योति क्षीण हो जाती है तो रविमंडल में जाने से उसकी क्या अवस्था होगी!

देखिए, नीचे के उदाहरण में ब्रह्मा-विष्णु की अपूर्व कसरत का कैसा वर्णन है।

सुंदर सेत सरोरुह मैं करहाटक हाटक की दुति को है।
तापर भौर भलो मनरोचन लोक बिलोचन की रुचि रोहै॥
देखि दई उपमा जलदेविन दीरघ देवन के मन मोहै।
केसव केसवराय मनौं कमलासन के सिर ऊपर सोहै॥

ब्रह्मा के सिर पर विष्णु के बैठने की सरलतापूर्वक कल्पना करना कुछ क्लिष्ट है। ब्रह्मा-विष्णु लोगों के देखे हुए नहीं हैं। अतः इस उत्प्रेक्षा में बोधगम्यता नहीं है और जब बोधगम्यता नहीं तो हमारे हृदय के रागों को उद्दीप्त करने में यह कैसे समर्थ हो सकती है! इसीलिए संभवतः यह उत्प्रेक्षा केशव ने जल-देवियों के द्वारा कहलवाई है और यह पसंद भी देवताओं ही को आई क्योंकि उन्हें संभवतः इस कसरत के देखने का सौभाग्य कभी प्राप्त होता हो!

कभी-कभी उपमा-उत्प्रेक्षा की धुन में केशव कुछ ऐसी गलतियाँ कर गए हैं जिनसे वास्तविक विषय पर व्याघात पहुँचता है। अग्नि की ज्वालाओं में जलते हुए राक्षसों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

कहूँ रैनचारी गहे ज्योति गाढ़े। मनो ईस रोषाग्नि में काम डाढ़े॥

राक्षसों का उपमान कामदेव ऐसे सुंदर व्यक्ति से देना उचित नहीं हुआ। रावण सीता से प्रसन्न होने की प्रार्थना कर रहा है। सीता उसे तुच्छ समझ उससे कहती हैं—

बिठ-कन घन घूरे भखि क्यों बाज जीवै?

यहाँ सीता का उपमान बाज ले आए हैं और रावण के ऐश्वर्य इत्यादि के लिये 'बिट-कन'। परंतु सीता ऐसी सात्विक स्त्री के साथ ऐसा तामसी पक्षी आलंकारिक रूप में भी शोभा नहीं पाता। ऐसा ही भाव-विरोध नीचे के उदाहरण में हो गया है जहाँ संदेह अलंकार की सहायता से प्रातःकाल के सूर्योदय का वर्णन कर रहे हैं—

परिपूरन सिंदूर-पूर कैधौं मंगल घट।
किधौं सक्र को छत्र मढ़्यो मानिक मयूख पट॥

कै सोनित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग-भामिनी के भाल को॥

मंगलघट के साथ में यह खून से भरा कापालिक का खप्पर अमंगल ही करता हुआ प्रतीत होता है। इसी सूर्योदय का वर्णन करते हुए केशवदासजी ने एक रूपक कहा है जो अत्यंत सुंदर है—

चढ्यो गगन तरु धाय, दिनकर-बानर अरुन-मुख।
कीन्हौं झुकि झहराय, सकल तारका-कुसुम बिन॥

वृक्ष रूप आकाश पर लाल मुँहवाला बंदर रूप सूर्य दौड़कर चढ़ गया है और उसने कुसुमरूप तारों को झकझोरकर गिरा दिया है।

रामचंद्रजी शिव के धनुष की प्रत्यंचा को खींच रहे हैं। ऐसा करते समय कमनैत की दृष्टि एक वाण के आकार में प्रतीत होती है। देखिए, केशव इसका कैसा वर्णन करते हैं।

उत्तम गाथ सनाथ जबै धनु श्रीरघुनाथ जू हाथ कै लीन्हो।
निर्गुन तें गुनवंत कियो सुख केसव संत-असंतन दीन्हो॥
ऐंच्यो जहीं तहीं कियौ संयुत तिच्छ कटाच्छ नराच नवीनो।
राजकुमार निहारि सनेह सौं संभु को साँचो सरासन कीनो॥

इसी तरह एक बार रत्नाकरजी ने दृग की रश्मियों को डोर बनाया है—

तेहि लखि ललकि कुमार लग्यौ दृग-डोरनि थाहन।

रूपकातिशयोक्ति अलंकारों में केवल उपमान ही रक्खे जाते हैं। उनकी सहायता से प्रस्तुत का अध्याहार कर लिया जाता है। सादृश्य-मूलक अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति के बाद रूपकातिशयोक्ति का पाँचवाँ स्थान है। उपमा से प्रारंभ कर उपमेय-उपमान में जो सादृश्य की स्थापना की जाती है वह उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति में होती हुई रूपकातिशयोक्ति में पहुँचती है। इस रूपकातिशयोक्ति में प्रायः प्रसिद्ध ही उपमान लिए जाते हैं क्योंकि अप्रसिद्ध उपमान लेने से ऐसी आलंकारिक योजना एक प्रकार की पहेली-सी हो जा सकती है।

सूरदासजी ने बहुत से पद रूपकातिशयोक्ति में कहे हैं। 'जायसी' ने एक बार अप्रचलित उपमानों को लेकर रूपकातिशयोक्ति की योजना की है जो कुछ क्लिष्ट हो गई है। जैसे—

जौ लौं कालिंदी होहि बिलासी। फिर सुरसरि होइ समुद परासी॥

देवपाल की दूती पद्मावती से कहती है कि जब तक कालिंदी के समान तेरे केश हैं तब तक अर्थात् यौवन में तू विलास कर ले। फिर गंगा के समान श्वेत केशवाली होकर तू वृद्ध हो जावेगी और द्रुतगति से मृत्यु-समुद्र की ओर बहने लगेगी। रूपकातिशयोक्ति का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें नई-नई उद्भावनाएँ नहीं की जा सकतीं। रूपकातिशयोक्ति का केशव से एक उदाहरण—

सोने की एक लता तुलसी बन क्यों बरनौं सुनि बुद्धि सकै छ्वै।
केसवदास मनोज मनोहर ताहि फले फल श्री फल से ब्वै॥
फूलि सरोज रह्यौ तिन ऊपर रूप निरूपत चित्त चलै च्वै।
तापर एक सुआ सुभ तापर खेलत बालक खंजन के द्वै॥

यहाँ पर ऐसे ही उपमान रक्खे गए हैं जो काव्य में प्रसिद्ध हैं। अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार में एक भेद ऐसा है जिसमें कार्य के बहाने कारण कहा जाता है। सीताजी रामचंद्रजी से यह संदेसा कहलवा रही हैं कि एक मास के बाद मैं प्राण धारण करने में समर्थ न हो पाऊँगी। परंतु देखिए, कैसे काव्योचित ढंग से यह बात अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के द्वारा कही गई है—

श्री नृसिंह प्रह्लाद की वेद जो गावत गाथ।
गये मास दिन आठ ही झूठी ह्वै है नाथ॥

वेद पुराणादिकों में भक्तवत्सलता के उदाहरण में प्रह्लाद की कथा सुनाकर कहा जाता है कि भगवान अपने भक्तों का दुःख दूर करने अवश्य आते हैं परंतु एक मास के बाद आपके दर्शन हुए तो मेरा शरीरांत हो जावेगा और आपकी भक्तवत्सलता की कहानी कवि-कल्पना रह जायगी।

नीचे की अतिशयोक्ति में यह भोली-भाली गोपी अपने दुःख को कैसे शब्दों में प्रकट कर रही है। इधर बेचारी की आँख कृष्ण पर पड़ती है, उधर लोग कलंक लगाना प्रारंभ कर देते हैं। ऐसी निर्दयता!

हँसि बोलत ही जु हँसैं सब केसव लाज भगावत लोक भगे।
कछु बात चलावत घैरु चलै मन आनत ही मनमत्थ जगे॥
सखि तू जु कहै सु हुती मन मेरेहु जानि यहै न हियौ उमगे।
हरि त्यौं टुक डीठि पसारत ही अँगुरीन पसारन लोग लगे॥

'अँगुरीन पसारन लोग लगे' में मुहावरे का भी बड़ा सुंदर प्रयोग हुआ है और 'टुक' शब्द में अपने अपराध को थोड़ा देखने की प्रवृत्ति और संकोच के कारण कृष्ण की ओर आँखें भरकर न देख सकने की असमर्थता एक साथ प्रकट होती है। 'बात चलाना', 'घैर चलना', 'मन में ले आना', 'कामदेव का जगाना', 'हृदय का उमगना', इत्यादि मुहावरों का सौंदर्य भी दर्शनीय है।

सहोक्ति अलंकार में दो कार्यों का एक साथ होना कहा जाता है। परंतु केवल एक साथ वर्णन करने मात्र से उसमें चमत्कार नहीं आता। 'गोविंद और मुकुंद दोनों साथ-साथ स्कूल गए', यहाँ पर सहोक्ति अलंकार नहीं हो सकता। सहोक्ति क्या, कोई भी अर्थालंकार केवल वाचक के रख देने से अलंकारत्व को प्राप्त नहीं होता। तत्तत् अलंकार का अभिप्रेत जो चमत्कार है, जब तक वह व्यंजित नहीं होता तब तक उसमें अलंकारत्व नहीं। उदाहरण—

भुव-भारहि संयुत राकस को दल जाय रसातल मैं अनुराग्यौ।
जग मैं जय सब्द समेतहि केसव राज विभीषन के सिर जाग्यौ॥
मय-दानव-नंदिनि के सुख सौं मिलि कै सिय के हिय को दुख भाग्यौ।
सुर दुंदुभि सीस गजा सर राम को रावन के सिर साथहि लाग्यौ॥

इसमें प्रारंभ से वर्णन सहोक्ति के द्वारा चलता है। अंत में कारण-कार्य का एक साथ ही आगे-पीछे के क्रम के बिना वर्णन करने से अक्रमातिशयोक्ति हो गई है। प्रायः सहोक्ति में अतिशयोक्ति आ ही

जाती है, केवल सहोक्ति ही नहीं, सादृश्यमूलक प्रायः सब अलंकारों में अतिशयोक्ति मूल में छिपी रहती है। यों भी कह सकते हैं कि इन सब अलंकारों की मूल अतिशयोक्ति ही है। उत्प्रेक्षा, रूपक इत्यादि उसके भेद हैं।

सीता राम के विरह में दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जाती हैं। दिनों के साथ-साथ उनकी क्षीणता भी बढ़ती जाती है यह बात इस सहोक्ति के द्वारा कैसे वाग्वैदग्ध्य से कवि ने लिखी है—'प्रति अंगन के संग ही दिन नासै'। दिन के साथ-साथ अंग क्षीण हो रहे हैं ऐसा लिखने से रीति-ग्रंथों में बताई हुई कवायद तो पूरी हो जाती परंतु वह चमत्कार न आ पाता जो ऊपर की पंक्ति में आ सका है। विरहक्षीण सीता पर कवि की दृष्टि इतनी जमी हुई है कि वह उसी के अंगों को देख पाता है। दिन का उदय होकर धीरे-धीरे ढलना उसके ध्यान को अपनी ओर नहीं खींच पाता।

अपूर्ण कारण से कार्य सिद्ध हो जाना वर्णन करने में एक प्रकार की विभावना हो जाती है। नीचे की पंक्तियों में यह कैसे सुंदर ढंग से आई है।

> बाजि नहीं गजराज नहीं रथपत्ति नहीं बल गात विहीनो।
> केसवदास कठोर न तीक्षन भूलिहूँ हाथ हथ्यार न लीनो॥
> जोग न जानति जंत्र न मंत्र न तंत्र न पाठ पढ्यौ परबीनो।
> रक्षक लोकन को सुगँवारिनि एक बिलोकनि में बस कीनो॥

बिना कारण के कार्य हो जाना, अल्प कारण से कार्य हो जाना, प्रतिबंधक या विघ्न के होते हुए भी कार्य हो जाना, इन तीनों अवस्थाओं में तीन प्रकार की विभावनाएँ होती हैं। इन तीनों का एक साथ ही निर्वाह कैसे स्वाभाविक ढंग से हुआ है—

> ब्रज की कुमारिका नै लीने सुक-सारिका,
> पढ़ावहिं कोक कारिकान केसव सबै निबाहि।

गोरी-गोरी भोरी-भोरी थोरी-थोरी बैस फिरि,
देवता-सी दौरि-दौरि आईं चोराचोरी चाहि ॥
बिन गुन तेरी आन भृकुटी कमान तानि,
कुटिल कटाच्छ बान यह अचरज आहि ।
एते मान ढीठ मेरे को अदीठ मन,
पीठ दै-दै मारतीं पै चूकतीं न कोऊ ताहि ॥

लालाजी ने लिखा है—"अनुमान होता है कि बिहारी ने नीचे लिखा दोहा इसी छंद को देखकर लिखा है ।

तिय कित कमनैती पढ़ी बिनु जिह भौंह कमान ।
चलचित बेझैं चुकति नहिं बंक बिलोकनि बान ॥

बिहारी ने कहा तो, पर केशव की उक्ति इस हेत बढ़ी-चढ़ी है कि पीठ दै-दै मारती हैं, जिसका जिक्र बिहारी नहीं कर सके ।"

लालाजी की संमति में पीठ देदे के मारने में एक विशेष चमत्कार है जिसका निर्वाह बिहारी नहीं कर पाये हैं परंतु वास्तव में जितनी देर वे पीठ दिए रहती होंगी उतनी देर देख न पाती होंगी और यदि पीठ फेरे हुए भी दृष्टि घुमाकर वह देख लेती है तो पीठ फेरना कार्य सिद्ध होने में कोई प्रतिबंध नहीं रहा । और नायक के सामने पीठ दे दे मारने में एक प्रकार का भद्दापन और तिरस्कार का भाव भी है । यदि यह कहा जावे कि वे संकोच से पीठ फेरे हुए हैं तो केशव का भोरी-भोरी शब्द का प्रयोग व्यर्थ हो जाता है । और जब उनके लिए 'ढीठ' शब्द का प्रयोग किया ही गया है और 'दौरि-दौरि' शब्दों के द्वारा उनका दौड़ना सिद्ध ही है तो फिर पीठ फेरकर कटाच्छ करने में कोई विशेष चमत्कार नहीं रह जाता । संभवतः इसीलिए बिहारी ने इसका 'जिक्र' नहीं किया ।

अलंकारों की ऐसी योजना जो विदग्धता के कारण मनोरंजन भी करे और क्रमशः भावोत्कर्ष की उच्च भूमि तक पाठकों को ले जावे, केशव में बहुत कम मिलती है । ऊपर के जो कुछ अच्छे उदाहरण दिए गए हैं वे

उनकी तीनों प्रसिद्ध पुस्तकों में से बहुत खोजकर निकालने पड़े। यह संभव है कि अधिक प्रयत्न करने से दस-बीस ऐसे उदाहरण और उपस्थित किए जा सकें। इन उदाहरणों के साथ-साथ हम यह दिखाते आए हैं कि केशव से ऐसी त्रुटियाँ हो गई हैं जो कुछ सहृदयता से ध्यान देकर बचाई जा सकती थीं। यहाँ पर कुछ ऐसे ही उदाहरण और देते हैं जिनमें केशव ने या तो अपने निरीक्षण से काम नहीं लिया या उनकी सहृदयता ने उनका साथ न दिया जिससे केवल भावोत्कर्ष ही नहीं बिगड़ गया है, प्रत्युत स्थान-स्थान पर ऐसी बातें भी उनके मुँह से निकल गई हैं जो उनके भाव-सामंजस्य में भी आघात पहुँचाती हैं और उनके परिश्रम को व्यर्थ करती हैं। लंका में आग लगने से रावण की सब रानियाँ लपटों से बचने के लिए इधर-उधर दौड़ती फिरती हैं। ऐसे समय वस्त्र के जल जाने से मंदोदरी के उरोज कंचुकीरहित हो जाते हैं। केशव लिखते हैं—

'बसीकर्न के चूर्न संपूर्न पूरे'—वे उरोज सोने के सुंदर कलश हैं जिनमें वशीकरण चूर्ण भरा हुआ है। आजकल की परिष्कृत शिष्टता को हम छोड़ भी दें—जो ऐसी उत्प्रेक्षाओं में अश्लीलता देखा करती है—तो भी यह कहना ही होगा कि आग में जलती हुई व्याकुल स्त्री को देखकर हृदय में करुणा ही का संचार होगा, सुंदर श्रृंगारी भावनाओं का नहीं। यह मान भी लिया जावे कि मंदोदरी सीता का अपहरण करनेवाले रावण की पत्नी है अतः राम के भक्तों को उसे जलते देख अधिक करुणा नहीं हो सकती। करुणा न भी हो, तिरस्कार तो अवश्य होना चाहिए। ऐसी अवस्था में वशीकरण चूर्ण की ओर ध्यान ले जाना अनावश्यक ही नहीं अनुचित भी है।

कैकेयी ने दशरथ से राम को वनवास देने का वर माँगा। उस समय दशरथ अत्यन्त दुखी हुए। ऐसे समय पर दुःख की गंभीरता प्रकट करने को हम प्रायः कह दिया करते हैं कि दुःख से उसका हृदय फट

गया। पर यह फटना शब्द लक्षणा के सहारे वेदना के आधिक्य को ही व्यंजित करता है। इसका तात्पर्य यह कभी नहीं होता कि जिस प्रकार दीवाल फट जाती है उसी प्रकार हृदय के फटने की दरार आरपार दिखाई पड़ सकती है—

यह बात लगी उर वज्र तूल। हिय फाट्यो ज्यौं जीरन दुकूल॥

ऊपर से देखने में तो यह प्रतीत होता है कि बड़ी सुंदर आलंकारिक योजना की गई है। जिस प्रकार पुराना वस्त्र शीघ्र ही फट जाता है उसी प्रकार दशरथ का हृदय भी शीघ्र ही फट गया, परंतु वास्तव में इस शीघ्रता से किसी भाव की गंभीर व्यंजना नहीं होती। किसी भी पुराने वस्त्र के फट जाने में किसी को कुछ भी कष्ट नहीं होता और जीर्ण वस्त्र के फटने के शब्दों से हमारा ध्यान एक वास्तविक फटने की ओर चला जाता है अतः मुख्यार्थ में बाधा नहीं होने पाती और मुख्यार्थ में बाधा हुए बिना वह लक्षणा ही सिद्ध नहीं होती जिसकी सहायता से गंभीर वेदना की व्यंजना करना कवि को अपेक्षित है। इसी प्रकार हृदय के द्रवीभूत होने के मुहावरे का प्रयोग हम करते जाते हैं परंतु द्रवीभूत होने के मुख्यार्थ को लेकर यदि कोई कहे कि उसका हृदय इतना पिघल गया कि उसके सब वस्त्र भीग गए तो यहाँ न तो दूर की सूझ होगी, न कोई भावोत्कर्ष। हम इतना ही कह सकेंगे कि कवि का ध्यान शब्द के लक्ष्यार्थ की ओर न जा पाया जो कि मुहावरे की जान है।

महाराज दशरथ के कोट की दीवालों की विशालता का वर्णन करते समय कवि कहता है कि वे दीवालें इतनी विस्तृत थीं कि बच्चे उन पर हाथी के बच्चों को लेकर खेलते फिरते थे। उन दीवालों की चौड़ाई तथा दृढ़ता बतलाने के लिये यह बहुत ही काव्योचित ढंग है। जिन दीवालों पर हाथी के बड़े-बड़े बच्चे—जो बच्चे होने पर भी भैंसों के बराबर तो अवश्य ही रहे होंगे—आसानी से खेलते फिरते थे, वे अवश्य ही बहुत चौड़ी तथा दृढ़ रही होंगी। परंतु आलंकारिक चमत्कार के फेर में वह भाव आगे चलकर बिगाड़ दिया गया है—

कलभन लीने कोट पर, खेलत सिसु चहुँ ओर।
अमल कमल उपर मनौ, चंचरीक चित-चोर॥

उन विशाल दीवालों के तथा उन हाथी के बच्चों के उपमान स्वरूप कमल और भौंरों को ले आने से विशालता की व्यंजना नहीं हो पाती। इतना कह देने से कि दर्शक बहुत दूर पर खड़ा हुआ मान लिया जायगा और दूरी के कारण बड़ी-बड़ी वस्तुएँ छोटी प्रतीत होती हैं, काम न चलेगा। क्योंकि दूर पर खड़े होने से वे दीवालें कैसी प्रतीत होती हैं, कवि का यह बताने का यहाँ लक्ष्य नहीं है। यहाँ तो यह बताना है कि वे दीवालें कितनी दृढ़ तथा विशाल हैं।

सीता की दासियों के कान के ताटंक का वर्णन करते समय कहते हैं—

ताटंक जटित मनियुत बसंत। रवि एक चक्र रथ से लसंत॥

वे ताटंक सूर्य के रथ के पहिए के समान मालूम होते हैं। सूर्य के रथ का पहिया कितना भी छोटा हो, कम-से-कम इतना बड़ा तो अवश्य होगा कि औरतों के छोटे कानों के लिये कुछ बड़ा पड़े। यह बात ठीक है कि स्त्रियों के छोटे से मुँह के लिये इतना बड़ा चंद्रमा उपमान रूप में काम में लाया जाता है, परंतु वहाँ पर कवि हमारा ध्यान चंद्रमा के विशाल आकार की ओर नहीं ले जाता। यदि 'वे ताटंक सूर्य-से चमक रहे हैं' ऐसा कह दिया जाता तो कोई ऐसी बुरी बात न होती। परंतु रथ शब्द ले आने से श्रोता का ध्यान इस बात की ओर जाता है कि सूर्य कम-से-कम इतने बड़े तो अवश्य हैं जिनके लादने के लिये—छोटा ही सही—एक रथ अवश्य अपेक्षित है और उस रथ के पहियों की ओर ध्यान जाने से केशव वह बात न ला सके जो वे लाना चाहते थे।

एक बार चंद्रमा का वर्णन करते समय लिखा है—

अंगद को पितु सो सुनिए जू। सोहत तारहि संग लिए जू॥

'तारा' में श्लेष होने के कारण वह एक ओर तो अंगद की मा तारा की ओर लगाया गया है, दूसरी ओर आकाशस्थित तारों की ओर। बस, इसी 'तारा' शब्द के कारण बेचारे चंद्रमा को अंगद का

बाप बनना पड़ा । न यहाँ रूपसाम्य है न कर्मसाम्य । बस, केवल एक शब्द के चमत्कार के लिये ऐसी ऊटपटाँग बात कही गई है । यही नहीं ऐसे श्लेषात्मक शब्दों का सहारा ले न जाने कितने स्थानों पर केशव ऐसे-ऐसे स्वरूपों को उपस्थित करते हैं जिनमें कुछ भी सहृदयता नहीं होती । इस प्रसंग पर पं० रामचंद्रजी शुक्ल लिखते हैं—

"तुलसी ने केशवदास के समान नहीं किया है कि पंचवटी का प्रसंग आया तो बस, 'सब जाति फटी दुख की दुपटी' करके और अपना यह श्लेष चमत्कार दिखाकर चलते बने—

'सोहत दंडक की रुचि बनी । भाँतिन भाँतिन सुंदर घनी ॥
सेव बड़े नृप की जनु लसै । श्रीफल भूरि भाव जहँ लसै ॥
बेर भयानक-सी अति लगै । अर्क समूह जहाँ जगमगै ॥'

अब कहिए, इसमें 'श्रीफल', 'बेर' और 'अर्क' पदों के श्लेष के सिवा और क्या है ? चित्रण क्या, यह तो वर्णन भी नहीं है । क्या 'बेर' को देखकर भयानक प्रलयकाल की ओर ध्यान जाता है और 'आक' को देखकर प्रलयकाल के अनेक सूर्यों की ओर ! इससे तो साफ झलकता है कि पंचवटी के वन-दृश्य में केशव के हृदय का कुछ भी सामंजस्य नहीं । इस दृश्य से उनके हृदय में किसी प्रकार का भाव उदय नहीं हुआ ।"

सीताजी की अग्नि-परीक्षा के समय भी केशव को उत्प्रेक्षा, संदेह इत्यादि की धुन-सी लग गई है । सीता को अग्नि में प्रवेश करते समय कुछ कष्ट भी होता होगा, राम-लक्ष्मण आदि के हृदय में भी कुछ टीस उठती होगी, इन बातों की ओर तनिक भी कवि का ध्यान नहीं गया है। आलंकारिक योजना में स्थान-स्थान पर ऐसी त्रुटियाँ रह गई हैं जिनमें बात उठाई और उत्प्रेक्षा में समाप्त की । विस्तार-भय से केवल दो-एक उदाहरण दिए जा सकते हैं—

सीता के पद-पद्म के, नूपुर पट जनि जान ।
मनहुँ कह्यौ सुग्रीव-घर, राजश्री प्रस्थान ॥

यहाँ पहले अपह्नुति से उठाया गया, बाद में उत्प्रेक्षा हो गई। इस उदाहरण को श्रीअर्जुनदास केडिया ने सापह्नवोत्प्रेक्षा में रखा है। परन्तु अपह्नुति के बाद उसी वस्तु अथवा उसी दृश्य के लिए उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकती। अपह्नुति में तो प्रथम हम एक वस्तु को छिपा लेते हैं और दूसरी को सत्य कहकर प्रकट कर देते हैं। उत्प्रेक्षा में हम वस्तु को छिपाते नहीं। केवल यही कहते हैं कि इसे यह मान लो। इसे यह मान लो, यह हम तभी कह सकते हैं जब 'इस' से बोध कराई जानेवाली वस्तु हमारे सामने है, छिपाई नहीं गई है। जब एक बार हम एक वस्तु या दृश्य को छिपा चुके तो फिर यह कहना कि इस वस्तु को यह समझ लो, व्यर्थ है। 'मानो' इत्यादि के द्वारा उस वस्तु को पुनः प्रकट करने से पहले का गोपन या छिपाना व्यर्थ हो जाता है। इसी अध्याय में हम पहले कह चुके हैं कि सादृश्यमूलक अलंकारों में क्रम से उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति और तब रूपकातिशयोक्ति की बारी आती है। सादृश्य के भरोसे उपमेय धीरे-धीरे अपने को हटाता चला जाता है और पाँचवीं सीढ़ी पर पहुँचकर वह दृष्टि से एकदम ओझल हो जाता है। और फिर हम केवल उपमानों को ही देख पाते हैं। तात्पर्य यह कि अपह्नुति और उप्रेक्षा में सादृश्य की दो भिन्न-भिन्न सीढ़ियाँ हैं। उत्प्रेक्षा के बाद अपह्नुति आ सकती है; अपह्नुति के बाद उत्प्रेक्षा नहीं। 'मानों' कहकर आगे चल हम उस वस्तु को छिपा सकते हैं। एक बार छिपाकर उसे उत्प्रेक्षा के लिये फिर प्रकट करना काव्योचित नहीं। इसमें संदेह नहीं कि 'साहित्य-दर्पण-कार' ने सापह्नवोत्प्रेक्षा नामक अलंकार माना है परंतु इसका समर्थन न तो और किसी प्रामाणिक आचार्य ने किया है, न यह बुद्धि-संगत है।

शरद्ऋतु का वर्णन करते समय उच्चकुल की तथा सुंदर लक्षणों से युक्त स्त्री के साथ रूपक बाँधा गया है। काव्य-शास्त्र में यह एक बहुत ही प्रसिद्ध, मोटी बात है कि रूपकालंकार में सादृश्य-बोधक शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। यदि कोई कवि ऐसा कर देता है तो रूपक अलंकार का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होने पाता। उपर्युक्त रूपक में भी केशवदासजी

ने 'समान' सादृश्यवाची शब्द रख दिया है। इससे आगे रूपक का निर्वाह बड़े पांडित्य से किया गया है परंतु केवल इस एक दोष ही के कारण आलंकारिक चमत्कार बहुत कुछ फीका पड़ गया है। उदाहरण—

दंतावलि कुंद समान गनो। चंद्रानन कुंतल भौंर घनो।
भौंहैं धनु खंजन नैन मनो। राजीवनि ज्यौं पद-पानि भनो॥
हारावलि नीरज हीय रमैं। है लीन पयोधर अंबर मैं।
पाटीर जुन्हाइहिं अंग धरे। हंसी गति केसव चित्त हरे॥

इस दोष के परिहार के लिये लाला भगवानदीनजी ने 'समान' शब्द का अर्थ 'गरबीले' किया है और उसे कुंद का विशेषण माना है। वास्तव में 'गरबीले' किसी सजीव पुरुष वा स्त्री का विशेषण हो सकता है। कुंद का पुष्प क्या गर्व करेगा? और कल्पना के द्वारा निर्जीव वस्तुओं में ऐसे विशेषणों का प्रयोग—जो सजीव ही के साथ स्वभावतः आ सकते हैं—किसी-न-किसी काव्योचित उद्देश्य को लेकर होता है। यहाँ कोई ऐसा उद्देश्य भी नहीं है। न जाने लालाजी ने इस दोष को दूर करने के लिये ऐसी कल्पना क्यों की? केवल एक यही दोष तो है नहीं, बहुत से ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जिनमें केशवदासजी ने अलंकार-शास्त्र की दृष्टि से त्रुटियाँ की हैं। उदाहरणों की संख्या बढ़ाकर पुस्तिका का कलेवर बढ़ाना अभीष्ट नहीं।

शब्दालंकारों में जितने अलंकार आचार्यों ने गिनाए हैं वे सब उच्च काव्य-कला की दृष्टि से एक ही कोटि के नहीं हैं। कुछ तो भाव-व्यंजना में सहायता पहुँचाते हैं और कुछ केवल चमत्कार की स्थापना ही कर पाते हैं।

स्थान-स्थान पर पाठकों की चमत्कारवृत्ति का संतोष करते रहना कुछ ऐसी बुरी बात नहीं है किंतु इन चमत्कार उत्पन्न करनेवाली शैलियों में अधिक अनुरक्त हो जाने पर यह अवश्य कहना होगा कि कवि का ध्यान भावोत्कर्ष-विधान की ओर उतना नहीं था। चमत्कार की प्रवृत्ति कोई गंभीर प्रवृत्तियों में नहीं है और न उच्च कोटि के कवि इसमें अधिक

रमते हुए प्रतीत होते हैं। केशव ने चमत्कारों की ओर कुछ अधिक ध्यान दिया और फलतः ऐसे अलंकारों का प्रयोग उनके द्वारा अधिक मात्रा में हुआ जो भावोत्कर्ष की ओर अधिक नहीं बढ़ते। परिसंख्या, विरोधाभास, मुद्रा, श्लेष इत्यादि ऐसे ही अलंकार हैं। विरोधाभास का प्रयोग तो इस प्रकार किया जा सकता है कि वह कुछ स्वाभाविक जँचे जैसा कि यहाँ पर—

> जदपि भृकुटि रघुनाथ की, कुटिल देखियति जोति।
> तदपि सुरासुर नरन की, निरखि शुद्ध गति होति॥

कुटिल वस्तु से शुद्ध गति होने में विरोध-सा है, परंतु जरा सा विचारकर देखने से वह विरोध का आभास दूर हो जाता है। यद्यपि यहाँ पर कोई गंभीर भाव-व्यंजना नहीं है तथापि बात के कहने का एक सुंदर ढंग अवश्य है। परंतु स्थान-स्थान पर कवि को इस अलंकार का इतना आग्रह हो गया है कि बड़े-बड़े विस्तृत वर्णन इसी अलंकार में किए गए हैं।

अयोध्या की वाटिका का वर्णन, तथा विश्वामित्र के द्वारा जनक से राम का परिचय कराए जाने का वर्णन ऐसे ही उदाहरण हैं। इनमें न काव्य-कला है न सहृदयता। व्यर्थ के अलंकार भाव-क्षेत्र पर अधिकार जमाए बैठे हैं।

> विषमय यह गोदावरी, अमृतन के फल देति।
> केसव जीवनहार के, दुख असेष हरि लेति॥

यहाँ विष, जीवन इत्यादि शब्दों के श्लेष के बल पर एक पहेली बुझाई गई है। परिसंख्या अलंकार केशव को अत्यंत प्रिय था। रामचंद्रिका में प्रारंभ से अंत तक यह अलंकार भरा पड़ा है। उत्तरार्द्ध में राम की राज्य-व्यवस्था का वर्णन करते समय इस अलंकार का इतना प्रयोग किया है कि जी ऊब उठता है। माननीय 'लालाजी' ने टिप्पणी में एक स्थान पर लिखा है "परिसंख्या अलंकार समझकर इसका अर्थ समझिए तो मजा

आ जाय।" परंतु इसे समझ लेने पर भी ऐसे वर्णनों में कुछ 'मजा' आता हुआ दिखाई नहीं पड़ता।

श्लेष अलंकार का प्रयोग प्रायः कवियों ने किया है परंतु भावोत्कर्ष तो दूर की बात है, वास्तविक चमत्कार का विधान भी उसके द्वारा बहुत कम हो पाया। ऐसे-ऐसे पद्य केशव ने रखे हैं जिनके तीन-तीन और चार-चार अर्थ निकलते हैं परंतु पाठक को कोई आनंद प्राप्त नहीं होता। रामचंद्रिका के एक पद्य में राम की सेना, रावण की मौत और विभीषण की राज्यश्री तीनों पर घटनेवाले शब्द रखे गए हैं और दूसरे स्थान पर कालिका कि वर्षा वाले छंद में कालिका और वर्षा दोनों पक्ष के अर्थ निकलते हैं।

'कविप्रिया' का निम्नलिखित पद ब्रह्मा, कृष्ण, शिव, राम तथा अमरसिंह पाँच व्यक्तियों पर लगता है—

भावत परमहंस जात गुन सुनि सुख,
पावत सँगीत मीत बिबुध बखानिए।
सुखद सकति धर समर सनेही बहु,
बदन बिदित बस केसोदास गनिये॥
राजै द्विजराज पद भूषन बिमल कम-
लासन प्रकास परदार-प्रिय मानिए।
ऐसे लोकनाथ कै त्रिलोकनाथ नाथ-नाथ,
कैधौं रघुनाथ कै अमरसिंह जनिए॥

केशवदासजी के अलंकारों पर दृष्टि डालते समय एक बात जिसकी ओर हमारा ध्यान स्वतः आकृष्ट हो जाता है वह यह है कि उनके काव्य के पात्र भी अलंकार-शास्त्र के पंडित हैं। जनकपुर के स्त्री-पुरुष, अयोध्या से बन जाते समय मार्ग के लोग, जलदेवियाँ, तथा स्वयं रामचंद्र भी अलंकारों को लिए हुए सामने आते हैं। एक आध स्थान पर तुलसीदासजी ने भी ऐसा किया है परंतु केशव के पात्रों को अलंकार का जितना

आग्रह है उतना तुलसी के पात्रों को नहीं। लंका के ऊपर रामचंद्रजी की यह उत्प्रेक्षा—

रामचंद्र जू कहंत स्वर्ण-लंक देखि-देखि।
ऋक्ष बानरादि घोर ओर चारिहू बिसेखि॥
मंज कंज-गंध-लुब्ध भौंर-भीर-सी बिसाल।
केसोदास आसपास सोभिजैं मनौंमराल॥

जनक की नगरनारियों की उत्प्रेक्षा—

भौर भए गज पर चढ़े, श्री रघुनाथ बिचारि।
तिनहिं देखि बरनत सबै, नगर नागरी नारि॥
तम पुंज लियो गहि भानु मनो।
गिरि अंजन ऊपर सोभ भनो॥
जनु भासत दानहिं लोभ धरे।

शब्दालंकार केवल भाषा के सौंदर्य की वृद्धि करते हैं भावोत्कर्ष में उनसे सहायता नहीं मिलती, यह सिद्धांत ठीक नहीं। भाव भाषा की सहायता से अपनी सत्ता प्रकट करता है और भाषा जैसी परिमार्जित, सुंदर और काव्योचित होगी, भाव की गंभीरता में उतनी ही सहायक होगी। यमक, अनुप्रास इत्यादि शब्दालंकार भाषा को सुंदर और आकर्षक बनाने की शैलियाँ मात्र ही हैं। अतः इनका महत्त्व काव्य में कम नहीं। जिस स्वाभाविक ढंग से तुलसी ने शब्दालंकारों की योजना की है उस ढंग से केशव नहीं कर पाए हैं। परंतु फिर भी शब्दमैत्री की वह भद्दी रुचि जिसमें शब्द इतने तोड़-मरोड़ दिए जाते थे कि अर्थ तक पहुँचना दुरूह हो जाता था, केशव में नहीं है। तुलसी की—'लालन जोग लखन लघु लोने' ऐसी पंक्तियों में ऐसा नहीं प्रतीत होता कि कवि को इन 'लकारों' को एकत्र करने में कुछ परिश्रम पड़ा है। बनावटी शब्द-मैत्री की योजना काव्य की वास्तविकता पर आघात पहुँचाती है। केशव की इन पंक्तियों में शब्द-मैत्री का निर्वाह कैसी स्वाभाविकता से किया गया है—

उचकि चलत कपि दचकनि दचका,
मंच ऐते मचकत भूतल के थल-थल ।
लचकि-लचकि जात सेस के असेस फन,
भागि गई भोगवती अतल-वितल तल ॥

कहीं-कहीं शब्दों की ध्वनि मिलाने के लिए ऐसे शब्द ले आए हैं जिनमें भाव नष्ट हो जाता है । देखिए, इस उदाहरण में घनश्याम कृष्ण को केवल इसीलिए 'घूघू' बनना पड़ा कि उनके नाम में एक घकार था—

काकौ घर घालिवे कौ बसे कहाँ घनश्याम,
घूघू ज्यौं घुमन प्रात मेरे गृह आए हौ ॥

---

८. भाषा

भाषा का आविर्भाव पहले-पहल आत्माभिव्यंजन की आकांक्षा को पूरी करने के लिए हुआ होगा । कुछ प्राकृतिक कारणों से मनुष्य जाति ने प्रारंभ ही में अनुभव किया कि उसे अपने को जीवित रखने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि वह समाज-बद्ध होकर रहे । समाज में पारस्परिक भाव-विनिमय की आवश्यकता दूर करने को भाषा बनी होगी । कुछ दिनों तक तो अवश्य भाव को सीधे-सादे भाव से प्रकट करना मात्र भाषा का लक्ष्य रहा होगा । पर मनुष्यों के हृदयों में संस्कार और सौंदर्य की भी एक प्रवृत्ति है । आवश्यकता की पूर्ति होते न होते वह इच्छा करने लगता है कि उसके चारो ओर सौंदर्य का वातावरण हो । अतः भाषा को सुंदर बनाने का, परिमार्जित करने का प्रयत्न प्रारंभ हुआ होगा । इस सौंदर्य की आकांक्षा का कहीं अंत नहीं । प्रतिदिन प्रयत्न होते आए, और होते रहेंगे ।

अतः हम भाषा पर दो दृष्टियों से विचार कर सकते हैं। वह भाव के अभिव्यंजन में कहाँ तक समर्थ हुई, तथा उस भाव को कितनी सुंदरता से प्रकट करने में कवि ने अपने हृदय की कला का परिचय दिया। भावाभिव्यंजन व्याकरण का क्षेत्र है, जो शब्दों और वाक्यों के ऊपरी ढाँचे की ओर अधिक दृष्टि रखता है, तथा कुछ प्रयोगों को शुद्ध और कुछ को अशुद्ध बता अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है। भाषा के दूसरे पक्ष का संबंध हृदय से है। इस दृष्टि से भाषा को परखते समय हमें यह देखना पड़ता है कि भाव कितनी सुंदरता से प्रकट किए गए हैं। व्याकरण के प्रश्न को कुछ काल के लिए स्थगित कर हम इस बात का विचार करेंगे कि केशव भाव को सुंदरता से व्यक्त करने के लिये किन-किन युक्तियों का आश्रय लेते हैं और कहाँ तक समर्थ होते हैं।

शब्दों का परंपरा से प्राप्त एक सांकेतिक अर्थ होता है। यह सांकेतिक अर्थ यद्यपि वैज्ञानिकों के भाव को प्रकट करने में समर्थ होता है परंतु भाव-क्षेत्र में आकर हम शब्दों की शक्ति की कमी का अनुभव करने लगते हैं। लंबी से-लंबी दूरी तथा उच्च-से-उच्च पर्वत-शिखरों की माप करने को वैज्ञानिक के लिए माप-दंड बने हुए हैं। किंतु सौंदर्यादि की क्रमशः वर्धमान अवस्थाओं को व्यक्त करते समय, सुंदर, अतिसुंदर, महासुंदर इत्यादि कह लेने पर हम इस चिंता में पड़ते हैं कि सुंदरता की भिन्न-भिन्न स्थलों में होनेवाली विशिष्टताओं को हम किस प्रकार व्यक्त करें। परम सुंदर शिव के भोलेपन को अथवा महा उजड्ड की मूर्खता को नापने के लिए हमारे पास व्याकरण का दिया हुआ कोई माप-दंड नहीं। सुंदर को महासुंदर कहने से, मूर्ख को महामूर्ख कह लेने से हमारा संतोष नहीं होता। हम जो बात कहना चाहते हैं वह व्यक्त नहीं हो पाती। ऐसी अवस्था में सुंदर को 'इसकी कुछ और ही सुंदरता है' ऐसा कह तथा मूर्ख को बैल या गदहा बना हम अपना संतोष करते हैं। इसी कार्य के संपादन के लिए समाज की शक्तियों ने एक ओर लक्षणा-

व्यंजनादि शब्द-शक्तियों की उद्भावना की, दूसरी ओर विविध अलंकारों की। मुहावरों, लोकोक्तियों इत्यादि की योजना भी भाषा को और उसके द्वारा भाव को सुंदर बनाने ही की दृष्टि से की जाती है। केशवदास की भाषा पर ध्यान देने पर हम देखते हैं कि उन्होंने अभिधा-शक्ति से अधिक काम लिया है। अभिधा-शक्ति के द्वारा हम केवल शब्द के साक्षात् अर्थ तक पहुँच सकते हैं, वक्रता से अथवा भंगि से प्राप्त अर्थ तक नहीं। काव्य में चमत्कारपूर्ण सौंदर्य लाने के लिए जितनी लक्षणा की आवश्यकता पड़ती है उतनी अभिधा की नहीं। यह संभव भी नहीं और आवश्यक भी नहीं कि कवि आदि से अंत तक लक्षणा ही का प्रयोग करे, परंतु जिन स्थलों पर लक्षणा सहायक हो सकती है उन स्थलों को कवि को परखना अवश्य चाहिए। कुछ मुहावरों को छोड़ जहाँ रूढ़ि से लक्षणा चली आती है, केशव ने लाक्षणिक प्रयोगों का कम आश्रय लिया है। रूपक अलंकार सारोपा लक्षणा का आश्रय लेता है और सारोपा तथा साध्यवसाना दोनों लक्षणाएँ सादृश्य पर निर्भर हैं। भेद रहने पर भी उपमेय-उपमान में साधर्म्य रहना उपमा का मूल तत्त्व है और यह उपमालंकार आगे चलकर सादृश्यमूलक सभी अलंकारों का आधार प्रमाणित होता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि रूपक अलंकार विशेषतः तथा अन्य सादृश्यमूलक अलंकार साधारणतः लक्षणा के आश्रित हैं परंतु लाक्षणिक प्रयोगों का आश्रय लेकर अलंकारों का जो भवन बनाया जाता है उसमें लाक्षणिकता की नितांत रूढ़ि-सी होने से साक्षात् संकेतित अर्थ ही की तरह नीरस हो जाती है, उसमें भी वक्रता का चमत्कार नहीं रह जाता। हाँ, उन कवियों की बात दूसरी है जो प्रतिभा के बल पर प्रकृति में खोज-खोजकर भिन्न-भिन्न भावों के उत्कर्ष-विधान में समर्थ होनेवाले उपमानों का आयोजन करते हैं तथा प्रयोजन के अनुसार नव्य-नव्य लाक्षणिक वक्रताओं की उद्भावना करते हैं। परंतु दुर्भाग्य-वश केशव में ऐसी प्रतिभा नहीं थी।

वाच्य और लक्ष्य अर्थों के अतिरिक्त एक व्यंग्यार्थ भी आचार्यों ने

माना है। इस व्यंग्यार्थ को प्रकट करनेवाली शक्ति का नाम व्यंजना रखा गया है। व्यंजना ही के द्वारा रस की सिद्धि होती है, ऐसा आचार्यों का मत है। यदि व्यंजना-शक्ति का आश्रय नहीं लिया गया—चाहे वह व्यंजना अभिधा पर निर्भर हो चाहे लक्षणा पर—तो विभाव-अनुभाव-संचारी इत्यादि की योजना हो जाने पर भी रस और भाव की निष्पत्ति नहीं हो पाती। यही कारण है जिससे केशव के भावों में उतनी गंभीरता नहीं आने पाई। इस विषय पर भाव-व्यंजना के अध्याय में विचार हो चुका है। यहाँ केवल यही विचार करना है कि केशव में हम व्यंग्यार्थ कहाँ तक पाते हैं। जैसा कि अभी कहा जा चुका है व्यंजना लक्षणा का भी आश्रय ले सकती है और अभिधा का भी। अभिधा की अपेक्षा लक्षणा का आश्रय लेकर आगे बढ़नेवाली व्यंजना में चमत्कार-विशेष होता है क्योंकि लक्षणा की वक्रता के कारण पाठकों का हृदय पहले से चमत्कृत हो रहता है और वह भिन्न-भिन्न भावों में मग्न होने के लिए सहज उन्मुख किया जा सकता है। केशव में लक्षणामूलक व्यंजना के दर्शन ही नहीं होते। अभिधामूलक व्यंजना उनके संवादों में कहीं-कहीं अवश्य आई है। जहाँ-जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ काव्य के सौंदर्य में वृद्धि ही हुई है। रावण हनूमान से पूछता है कि 'तूने सागर कैसे पार किया?' वे उत्तर देते हैं—'जिस प्रकार गोपद।' फिर प्रश्न होता है कि 'तेरे यहाँ आने का कारण क्या है?' उत्तर मिलता है कि 'मैं सीता के चोर को देखना चाहता हूँ।' यह प्रश्न पूछे जाने पर कि 'तू बंधन में कैसे पड़ा?' उत्तर मिलता है कि 'मैंने तेरी सोती हुई सुंदरी स्त्रियों को नेत्रों से छुआ था, उसी पाप के फलस्वरूप यह बंधन है।'

सागर कैसे तर्यो ? जस गोपद। काज कहा ? सिय-चोरहि देखो॥
कैसे बँधायो ? जु सुंदरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो॥

दूसरे की स्त्रियों को नेत्रों से छूने से इतना पाप होता है कि हनूमान ऐसे वीर को बंधन में पड़ना पड़ा। जो व्यक्ति परोक्ष में दूसरे की स्त्री का अपहरण करता है उसकी क्या अवस्था होगी यह भाव व्यंजना के द्वारा

बड़े सुंदर ढंग से लिखा गया है। नेत्रों से छूना कैसा सुंदर प्रयोग है, जो एक ओर तो अपनी नवीनता के द्वारा चित्त को चमत्कृत करता, दूसरी ओर यह संकेत भी करता है कि नेत्रों ही के द्वारा छूने से इतना बड़ा दंड मिला।

रावण के अंगद से यह पूछने पर कि तू किसका लड़का है ? कैसा सुंदर व्यंग्यार्थगर्भित उत्तर मिलता है—

कौन के सुत ? बालि के, वह कौन बालि न जानिए ?
काँख चापि तुम्हें जो सागर सात न्हात बखानिए ॥
है कहाँ वह ? वीर अंगद देवलोक बताइयो।
क्यों गयो ? रघुनाथ-बान बिमान बैठि सिधाइयो ॥

रावण ऐसे वीर को काँख में दबाकर जो बालि सातो समुद्रों में स्नान करता फिरता था वह वीर आज रामचंद्र से द्वेष करने से ऐसा हलका हो गया कि उनके बाण ही को विमान बनाकर सीधा स्वर्ग को उड़ गया। राम के द्वेष करने से ऐसे-ऐसे वीरों की यह अवस्था होती है, अब रावण तू भी अपने आगे की सोच ले। पर ऐसे स्थल केशव के ग्रंथों में बहुत कम मिलते हैं। जो कुछ मिलते हैं वह उनके संवादों में।

एक युक्ति और है जिसका आश्रय कभी-कभी कुशल कवि लिया करते हैं। कुछ अभिमानी कवि उस ओर जाने में अपना अपमान समझते हैं। लक्षणा, व्यंजना, अलंकार, मुहावरों इत्यादि का आश्रय लेने पर भी जब वे देखते हैं कि उनका वास्तविक अर्थ सिद्ध नहीं हो रहा है तो वे एक ऐसी शैली से काम लेते हैं जिसे हम मूक भावव्यंजना का नाम दे सकते हैं। कुशल कवि भाव के स्थान तक पाठकों को ले जाता है और आगे चलकर अपनी असमर्थता प्रकटकर केवल मूक होकर उँगली से उधर इशारा करता रह जाता है। तुलसीदास इत्यादि सभी कवियों ने इस शैली को अपनाया है। तुलसी के ग्रंथों से यहाँ पर हम कुछ उदाहरण देते हैं—

(१) नख सिख सुंदरता अवलोकत कह्यो न परत सुख होत जितो री।

(२) कौशल्या के विरह-बचन सुनि रोइ उठीं सब रानी।
तुलसिदास रघुबीर-बिरह की पीर न जाति बखानी॥
(३) तुम्हरे विरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु राम करुना-निधि जानौं कछु पै सकौं कहि हौं न॥

रत्नाकरजी ने भी बड़ी सहृदयता तथा नम्रता से इस शैली से काम लिया है। नम्रता हमें इसलिए कहना पड़ा कि संभवतः अभिमानी कवि इस प्रकार भाव को प्रकट करने में अपनी हेठी समझते हैं। रत्नाकर के कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) कहै रत्नाकर गुपाल कै हिये मैं उठी।
हूक मूक भायन की अकह कहानी है।
गद्गद कंठ है न बदन सँदेस पायौ
नैन-मग तौलौं आनि बैन अगवानो है॥
(२) औसर मिलै औ सरताज कछु पूछहिं तौ
कहियौ कछू न दसा देखी सो दिखाइयौ।
आहि कै कराहि नैन-नीर अवगाहि कछू
कहिबे को चाहि हिचकी लै रहि जाइयौ॥

केशवदासजी ने भी इस युक्ति का अनुसरण कहीं-कहीं किया है पर ऐसा तभी हो सका है जब वे अपने पांडित्य के आवेश में नहीं रहे। एक-आध स्थल पर तो बड़ी नम्रता से उन्होंने भी स्वीकार किया है कि भाव गंभीर है, हम कुछ नहीं कह पाते—

पावन बास सदा ऋषि को सुख को बरसै।
को बरनै कवि ताहि बिलोकत जी हरसै॥

इसी प्रकार यहाँ पर केशव ने बड़े संयम से काम लिया है—

तब पूछियो रघुराइ। सुख है पिता तन माइ।
तब पुत्र को मुख जोइ। क्रम तें उठीं सब रोइ।

यहाँ कौशल्या इत्यादि माताओं के मुख से कुछ न कहवाकर केशव ने अपने भाषा-संयम के द्वारा हृदय की वेदना की बड़ी सुंदर व्यंजना की

है। पर ऐसे स्थल केशव में कम ही हैं। प्रकरण कुछ रस-भूमि की ओर भटक गया और भाव को हम अलग भी नहीं कर सकते। कहाँ पर भाषा का क्षेत्र समाप्त होता है, कहाँ पर रस की ऊँची भूमि का प्रारंभ होता है इसकी कोई विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती है।

भाषा को सजाने के लिये मुहावरों तथा लोकोक्तियों की योजना भी कविगण करते हैं। केशव ने भी मुहावरों का प्रयोग किया है परंतु लोकोक्तियों की ओर उनकी विशेष रुचि नहीं थी। निम्नलिखित इने गिने स्थलों पर ही मुहावरे उनकी पुस्तकों में मिलते हैं—

(क) कीन्हों न सो कान।

(ख) स्वाद कहिबे को समर्थ न गूँग ज्यों गुर खाय।

(ग) दुःख देख्यो जो कालिह त्यों आजहु देखो।

(घ) हौं बहुतै गुन मानिहौं तेरे।

(ङ) कुंभकर्न सम सोदर जाके। और कौन मन आवत ताके।

(च) भूलि गई तब सोच करत अब जब सिर ऊपर आई।

(छ) बीस बिसे बलवंत हुते जु हुती दृग केशव रूप रई जू।

(ज) को है इंद्रजीत जो भोर सहै।

(झ) निकट विभीषन आय तुलाने।

(ञ) माह मिले मन का करिहौ, मुँह ही के मिले तैं कियौ मन मैलो। इत्यादि।

इन स्थलों पर भाषा के सौंदर्य में वृद्धि भी हुई है और भाव भी थोड़े से इने-गिने शब्दों के द्वारा सुंदरता से व्यक्त किया गया है। नीचे के सवैया में कई मुहावरों का प्रयोग बड़ी सुंदरता से किया गया है—

हँसि बोलत ही जु हँसै सब केसव लाज भगावत लोक भगै।
कछु बात चलावत घेरु चलै मन आनत ही मनमत्थ जगै॥
सखि तू जो कहो सु हुती मन मेरेहु आनि यहै न हियो उमगै।
हरि त्यों टुक डीठि पसारत ही अँगुरीन पसारन लोक लगै॥

परंतु कहीं-कहीं इनके मुहावरों के प्रयोग ठीक नहीं हुए हैं। जनक के यहाँ दूसरे दिन बारात-ज्यौतनी करते समय यह कहना ठीक नहीं हुआ—

दुःख देख्यो ज्यौं कालिह त्यौं आजहु देखौ।

'दुःख देखने' का अर्थ अधिक बुरे भाव में लिया जाता है, साधारण कष्ट उठाने के अर्थ में नहीं। हम यह भी नहीं कह सकते कि संभवतः केशव के समय में इसका भिन्न रूप से प्रयोग होता हो क्योंकि स्वयं उन्हीं ने इसका प्रयोग ठीक ढंग से किया है—

एक यहाँ दुख देखत केसव, होत वहाँ सुरलोक विहारी।

आठहु गाँठ, मामो पीना, ओझी ओढ़ना इत्यादि दो चार प्रयोग इनके ऐसे हैं जिनका ब्रजभाषा में भी बहुत प्रचार न था।

केशव के विषय में प्रसिद्ध है कि उनकी भाषा बहुत क्लिष्ट है, अतः वे क्लिष्ट काव्य के प्रेत समझे जाते हैं। यह क्लिष्टता यहाँ तक पहुँची हुई कही जाती है कि जब कोई राजा कवि को विदाई की दक्षिणा देना नहीं चाहता था तो केशव की कविता पूछता था—

कवि को दीन न चहै बिदाई। पूछै केसव की कविताई॥

केशव के सब ग्रंथों में यद्यपि 'रामचंद्रिका' कुछ क्लिष्ट पड़ती है, परंतु उसको भी इतना क्लिष्ट बताना बहुत बड़ी अतिशयोक्ति है। 'रसिक-प्रिया' इत्यादि ग्रंथ वैसे ही सरल हैं जैसे ब्रजभाषा के साधारणतः और ग्रंथ होते हैं। 'रामचंद्रिका' में भी बहुत कम ऐसे स्थल हैं जहाँ अर्थ तक पहुँचने में शब्द अथवा वाक्य बाधा डालते हों। क्लिष्टता यदि केशव में है तो इसी बात की कि उनमें उतना भाव-गांभीर्य नहीं कि लोग भाषा की क्लिष्टता को दूरकर जब भाव तक पहुँचे तो उन्हें अपना परिश्रम इतना न अखरे। फल प्राप्त हो जाने पर क्लेश भूल ही जाता है। सारा क्लेश होते हुए भी, जीवन भय होते हुए भी, समुद्र की तह से मोती निकाले ही जाते हैं। पृथ्वी के गर्भ में-से कण-कण कर कंचन संचित किया हो जाता है। मोती तथा कंचन का आकर्षण इतना अवश्य है कि उनके लिये लोग इतना कष्ट उठाने को प्रस्तुत रहते हैं। उसी प्रकार यदि कवि

के भाव उच्च हैं तो भाषा की कुछ क्लिष्टता इतनी नहीं अखरती। सूरदास के न जाने कितने पदों के अर्थ अभी तक नहीं लग सके हैं। तुलसीदास-जी की कविता में बहुत से स्थल अभी तक विवाद-ग्रस्त हैं। परंतु इन दोनों कवियों पर क्लिष्ट होने का आक्षेप नहीं किया जाता। कारण बस यही है कि लोग समझते हैं कि जब कभी भाषा की क्लिष्टता को दूरकर भाव तक पहुँच पावेंगे तो वह सारा परिश्रम आनंद में परिणत हो जावेगा। केशवदास पर थोड़ी सी क्लिष्टता होने के कारण 'क्लिष्ट काव्य का प्रेत' ऐसा आक्षेप न किया जाता यदि वे पाठक को भाव की उच्चभूमि तक पहुँचाने में समर्थ हुए होते। 'रामचंद्रिका' में अनुपयुक्त छंदों के चुनाव के कारण भी कुछ क्लिष्टता आ गई है। अल्पकायिक छंदों में ठूँस-ठूँस कर भाव भरने में कुछ अस्पष्टता आ ही जाती है। वैसे तो सर्वत्र ऐसी प्रसाद-युक्त भाषा मिलती है—

हौं जब ही जब पूजन जात पितापद पावन पाप-पनासी।
देखि फिरौं तब हीं तब रावन सातौ रसातल के जे बिलासी॥
लै अपने भुजदंड अखंड करौं छिति-मंडल छत्र-प्रभा-सी।
जानै को 'केसव' केतिक बार मैं सेस के सीसन दीन्ह उसासी॥

तथा—

बालि बली न बच्यो पर खोरहिं, क्यों बचिहौ तुम आपनी खोरहि।
जा लगि छीर-समुद्र मथ्यो, कहि कैसे न बाँधिहै बारिधि थोरहि॥
श्री रघुनाथ गनौ असमर्थ न, देखि बिना रथ हाथिन घोरहि।
तोख्यो सरासन संकर को जेहि, सोऽब कहा तुव लंक न तोरहि॥

'रसिक प्रिया' की भाषा 'चंद्रिका की भाषा से अधिक प्रसाद युक्त है। इसका मुख्य कारण यही है, जैसा अभी ऊपर कहा जा चुका है कि इस पुस्तक में लंबे लंबे छंदों का प्रयोग किया गया है। चंद्रिका में भी जहाँ जहाँ लंबे छंद—कवित्त, सवैये आदि—मिलते हैं वहाँ भाषा सरल, सुव्यवस्थित है।

भाषा की प्रौढ़ता की दृष्टि से तो यह कहा जा सकता है कि यदि

प्रौढ़ता से तात्पर्य भाषा की कसावट से है तो वह केशव में नहीं मिलती। प्रायः इनके सभी ग्रंथों के प्रवाह में एक प्रकार का ढीलापन है। शब्द बहुत तौल-तौलकर प्रयुक्त नहीं हैं।

युद्ध-वीर तथा रौद्र रस में कविगण उग्रता लाने के लिए प्रायः कर्ण-कटु शब्दों का प्रयोग किया करते हैं। कर्णकटु शब्दों का प्रयोग उग्र भावों की व्यंजना के लिए नितांत आवश्यक नहीं है क्योंकि तुलसी, रत्नाकर आदि कवियों ने सीधे शब्दों के द्वारा भी उग्र भावों की व्यंजना की है। फिर भी कर्णकटु पदावली की योजना से उग्र भावों में कुछ उग्रता की वृद्धि ही होती है। प्राकृत तथा अपभ्रंश-काल के द्वित्ववर्णयुक्त शब्द कुछ कठोर होते थे। इन्हीं का प्रयोग तुलसी, भूषण आदि ने भी रौद्र रस में किया है। 'रामचंद्रिका' में केशव ने इस शैली को नहीं अप-नाया। परंतु रतन-बावनी में यह प्रवृत्ति लक्षित होती है—

राखहु पति कुल लाज अबहिं खग्गन तनु खंडहु।
जाहु मलेच्छ न इक सबै रन सैन बिहंडहु॥
कहि 'केसव' राखहु रन भुवन जियत न पिच्छल पग धरहु।
सोइ रतनसेन कुल लाडिलहु रिपु रन मैं कट्टहि करहु॥

इनकी भाषा तो ब्रज ही है जो उस समय संपूर्ण उत्तर भारत की काव्यभाषा हो रही थी, परंतु इनकी भाषा पर बुंदेलखंडी का बहुत कुछ प्रभाव है। यह प्रभाव शब्दों के प्रयोग, क्रिया के कालों तथा संज्ञा-सर्व नामों के रूपों में भी लक्षित होता है। कहीं कहीं बुंदेलखंडी मुहावरों का भी प्रयोग किया गया है। कुछ शब्द यहाँ दिये जाते हैं जिनका प्रयोग प्रांतीय (बुंदेलखंडी) है—

शब्द	अर्थ
खारक	छोहारा
चोली	पिटारी
घोरिला	खूँटी
बरँगा	कड़ी

शब्द	अर्थ
दुगई	दालान
कुची	कुंजी
गौरमदाइन	इंद्र-धनुष

कुछ शब्द ऐसे हैं जो व्रजभाषा में बहुत प्रचलित नहीं थे—

शब्द	अर्थ
अलोक	कलंक
लाँच	रिश्वत
ऐलौ	आद
नारी	समूह

सका, लायक इत्यादि थोड़े से विदेशी शब्दों का प्रयोग भी इनकी भाषा में मिलता है, परंतु इनका इतना अधिक बाहुल्य नहीं है जितना आगे चलकर अन्य कवियों की भाषा में हुआ। तुलसीदास ने भी अरबी, फारसी शब्दों को ग्रहण किया और कहीं-कहीं तो विदेशी शब्दों में स्वदेशी प्रत्यय भी लगाए, जैसे—मिसकीनता। केशव संस्कृत के उस वातावरण में पले थे जहाँ के दास-दासी भी देववाणी ही बोलते थे। अतः उनकी भाषा में विदेशी शब्दों का कम पाया जाना स्वाभाविक ही है। भिश्ती इत्यादि का पेशा भी विदेशी है, अतः उनके लिये विदेशी शब्दों का प्रयोग उपयुक्त ही है। विदेशी वस्तुएँ प्रायः विदेशी नामों ही के साथ हमारे यहाँ ग्रहण कर ली जाती हैं।

अब इनकी भाषा पर दोषों की दृष्टि से भी विचार कर लेना आवश्यक होगा। (१) दोषों में 'च्युतसंस्कृत दोष' को बहुत बुरा माना जाता है। व्याकरण संबंधी अशुद्धियाँ प्रायः बहुत खटकती हैं। जब एक बार पाठक या श्रोता को उद्वेग हो जाता है तो आगे चलकर रस के प्रवाह में भी बाधा पड़ती है। केशव में यह 'दोष' बहुत मिलता है। कुछ उदाहरण—

(क) पीछे मघवा मोहिं साप दई।

(ख) अंगद रच्छा रघुपति कीन्हो।

(ग) रह्यो रीझिकै बाटिका की प्रभा को।

(घ) करैं साधना एक पर्लोक ही को।

शाप तथा रच्छा शब्द क्रमशः पुंलिंग और स्त्रीलिंग हैं, अतः 'शाप दयो' तथा 'रच्छा कीन्ही' ऐसे प्रयोग व्याकरण-सम्मत होते। (ग) में प्रभा के साथ तृतीया विभक्ति का चिह्न होना चाहिए था। (घ) में 'साधना' के लिंग के अनुसार 'को' के स्थान पर 'की' ठीक होता।

(२) समाप्तपुनरात्त दोष—यह दोष वहाँ पर होता है जहाँ किसी वाक्य को समाप्त कर विशेषणादि के द्वारा उसे फिर उठाया जाता है—

ब्रह्मादि देव जब विनय कीन्ह, तट छीर-सिंधु के परम दीन।

तट 'छीर-सिंधु के'—यहाँ पर वाक्य समाप्त हो गया। 'परम दीन' के द्वारा यह वाक्य फिर उठाया गया है।

पुनः—गाय द्विजराज तिय काज न पुकारि लागै,
भोगवै नरक घोर चोर को अभयदानि।

यहाँ 'गाय' द्विजराज 'इत्यादि के साथ' 'चोर को अभयदानि' भी आ जाना चाहिए था।

(३) अश्लीलत्व—व्रीड़ा-व्यंजक, घृणा-व्यंजक तथा अमंगल-व्यंजक पद जहाँ होते है, वहाँ यह दोष माना जाता है। उदाहरण—

केसनि मोरनि सीकर रमै, अदन को तमई जनु बमै।

यहाँ 'बमै' शब्द से कुछ घृणा-सी हो जाती है। 'दुख देख्यो ज्यौं कालि त्यौं आजहु देखौ' में अमंगलत्व आ गया है।

(४) संदिग्धत्व—जहाँ किसी वाक्य में संदेह रह जावे। कवि के वांछित अर्थ का शीघ्र पता न लगे—

या गिरि पर सुग्रीव नृप, ता सँग मंत्री चारि।
बानर लई छँडाय तिय, दीन्हों बालि निकारि॥

यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि किसी बंदर ने स्त्री को छीन लिया और बेचारे बालि को निकाल दिया।

(५) न्यूनपदत्व—

पानी पावक पवन प्रभु, ज्यौं असाधु त्यौं साधु।

यहाँ पर अर्थ तो यह है कि पानी, पावक, पवन और प्रभु साधु और असाधु दोनों के प्रति एक ही सा व्यवहार करते हैं, परंतु वाक्य में पर्याप्त शब्दों की न्यूनता से ऐसा अर्थ सरलता से नहीं निकल पाता।

(६) अक्रमत्व—

अमानुषी भूमि अवानरी करौं।

यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि अमानुषी तो पहले ही से है अब उसे केवल बंदरों से रहित करना ही शेष है।

(७) अधिकपदत्व—

बहु रुच कँगूरन लागि गए। तब स्वर्न लंक महँ सोम भई॥
जनु अग्नि-ज्वाल महँ धूम मई

यहाँ 'मई' शब्द व्यर्थ है।

(८) निहतार्थ—जहाँ किसी शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग हो—

बिसमय यह गोदावरी, अमृतन के फल देति।
केसव जीवनहार के, दुख असेष हरि लेति॥

विष, तथा जीवन शब्द का अर्थ पानी होता तो अवश्य है परंतु वह अर्थ बहुत प्रसिद्ध नहीं है।

यों तो रूपों की एकरूपता व्रजभाषा में बहुत कम मिलती है परंतु केशव के समय तक तो व्रजभाषा मँज भी नहीं पाई थी, अतः भिन्न-भिन्न कालों में प्रयुक्त होनेवाले प्रयोग प्रायः मिलते हैं। 'देखा' के लिए 'देखियो', 'देख्यो', 'दीख' इत्यादि अनेक रूप मिलते हैं और यह अनेकरूपता कभी-कभी तो एक ही छंद में लक्षित होती है। प्राकृत तथा अपभ्रंश-काल की क्रियाओं के वे प्रयोग जो कालों तथा वचनों का शासन नहीं मानते तथा जिनका प्रयोग सब पुरुषों के साथ होता था केशव में भी मिलते हैं—

विनती करिए जन ज्यों जिय लेखो।

'करिए' का प्रयोग बहुत व्यापक है और यह बहुत बड़े क्षेत्र में काम चलाता है। किजिय, दिजय, लिजय इत्यादि भी ऐसे ही प्रयोग हैं। कहीं-कहीं केशव ने कर्मणि प्रयोग भी किए हैं जैसे—'हम बन पठए हैं नृपति तात'—'राजा के द्वारा हम बन पठाए गए हैं।' 'धनदपुरी हौं रावन लीन्ही'—'धनदपुरी से मैं रावण के द्वारा ली गई।' 'पुत्र हौं बिधवा करी'—'पुत्र! हौं (तेरे द्वारा) विधवा करी गई।'

कहीं-कहीं केशव ने ऐसी पदावली की योजना की है जो एकदम संस्कृत-सी प्रतीत होती है—

रामचंद्र-पद-पद्म वृंदारक-वृंदाभिवंदनीयम्।
केशव मति भूतनया-लोचनं चंचरीकायते॥

तथा:—

सीता शोभन व्याह उत्सव सभा संभार संभावना।
तत्तत्कार्य समग्र व्यग्र मिथिलावासी जना सोभना॥
राजाराजपुरोहितादिसुहृदो मंत्री महामन्त्रदा।
नानादेशसमागता नृपगणा पूज्या पुरा सर्वदा॥

---

९. रामचंद्रिका तथा संस्कृत-ग्रंथ

हिंदी के अनेक प्राचीन तथा आधुनिक कवियों ने रामकथा पर काव्य लिखे हैं। प्राचीन काव्यों में 'रामचरितमानस' तथा 'रामचंद्रिका' इन दो ग्रंथों का अधिक प्रचार हुआ। 'रामचंद्रिका' प्रचार की दृष्टि से कुछ संकुचित क्षेत्र में रही परंतु 'रामचरितमानस' घर-घर में विराजने लगा। भाषा में रामचरित गानेवालों ने अपने काव्य के लिए संस्कृत की

भिन्न-भिन्न रामायणों, अनेक पुराणों तथा काव्य-नाटकों से सामग्री ग्रहण की। संस्कृत के काव्यकारों तथा नाटककारों ने अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार रामकथा में अनेक परिवर्तन किए, जिनकी उद्भावना भक्ति-मिश्रित कल्पना से की गई। तुलसीदास इत्यादि भाषा-कवियों ने भी अपनी रुचि के अनुसार, कभी रामचरित को अधिक सुंदर बनाने को तथा कभी कथा की आवश्यकतानुसार, अनेक कल्पनाएँ कीं। केशवदासजी ने 'रामचंद्रिका' की प्रस्तावना में लिखा है कि वाल्मीकि मुनि ने मुझे स्वप्न में दर्शन दिए थे। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वाल्मीकि-कृत रामायण से उन्हें अधिक सहायता मिली होगी। पर उनके ग्रंथ को देखने से ज्ञात होता है कि उस रामायण की इनपर बहुत कम छाप पड़ी है। केशव की कथा का ढाँचा अवश्य वाल्मीकि-रामायण से मिलता-सा है। पर यह साम्य अधिक नहीं है।

संस्कृत के दो नाटक ऐसे हैं जिनका बहुत गंभीर तथा विस्तृत प्रभाव तुलसीदास तथा केशवदास दोनों पर पड़ा है। ये 'प्रसन्नराघव' तथा 'हनुमन्नाटक' हैं। तुलसीदास का झुकाव 'हनुमन्नाटक' की ओर अधिक था और केशवदास पर अपेक्षाकृत 'प्रसन्नराघव' नाटक का अधिक प्रभाव पड़ा है। तुलसी का परशुराम-संवाद 'हनुमन्नाटक' की छाया है तथा केशव का परशुराम-संवाद 'प्रसन्नराघव' से प्रभावित है। संस्कृत के इन दोनों नाटकों को मिला कर पढ़ने से एक बात आश्चर्य में डाल देती है। कुछ श्लोक इन दोनों ग्रंथों में एक ही हैं, या बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। किसने किससे लिया है इसका निर्णय करना कुछ कारणों से असंभव-सा है। प्राचीन विश्वासवालों की धार्मिक श्रद्धा भी निर्णय में बाधा डालती है। प्रायः वैष्णव यही मानते हैं कि 'हनुमन्नाटक' स्वयं हनुमानजी की रचना है। इस नाटक में कथा का प्रवाह कहीं-कहीं कुछ खंडित-सा लगता है। इस अध्याय का लक्ष्य इन नाटकों का काल-निर्णय करना नहीं है, अतः इन दोनों नाटकों से कुछ मिलते हुए श्लोक देकर हम आगे बढ़ सकते हैं—

प्रसन्नराघव—

आद्वीपात्परतोऽप्यमी नृपतयः सर्वे समभ्यागताः
कन्येयं कलधौतकोमलरुचिः कीर्तिश्च लाभास्पदम्।
नाकृष्टं न च टङ्कृतं न नमितं स्थानाच्च न त्याजितं
केनापीदमहो धनुः किमधुना निर्वीरमुर्वीतलम्॥

यह 'हनुमन्नाटक' में इस रूप से आया है—

आद्वीपात्परतोऽप्यमी नृपतयः सर्वे समभ्यागताः।
कन्यायाः कलधौतकोमलरुचेः कीर्तेश्च लाभः परः॥
नाकृष्टं न च टंकितं न नमितं नोत्थापितं स्थानतः।
केनापीदमहो महद्धनुरिदं निर्वीरमुर्वीतलम्॥

नीचे कुछ और श्लोक उद्धृत किए जाते हैं जो प्रायः एक ही रूप में दोनों नाटकों में मिलते हैं—

भो ब्रह्मन्भवता समं न घटते संग्रामवार्तापि नः।
सर्वे हीनबला वयं बलवतां यूयं स्थिता मूर्धनि॥ १॥

यस्मादेकगुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभुजा—
मस्माकं भवतां पुनर्नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्॥ २॥

हा राम हा रमण हा जगदेकवीर
हा नाथ हा रघुपते किमुपेक्षसे माम्
इत्थं विदेहतनयां मुहुरालपन्ती-
मादाय राक्षसपतिर्नभसा जगाम॥ ३॥

हारः कण्ठं विशतु यदि वा तीक्ष्णधारः कुठारः
स्त्रीणां नेत्राण्यधिवसतु नः कज्जलं वा जलं वा
सपश्यामो ध्रुवमिह मुखं प्रेतभर्तुर्मुखं वा
यद्वा तद्वा भवतु न वयं ब्राह्मणेषु प्रवीराः॥ ४॥

इस अंतिम श्लोक को केशवदासजी ने इस रूप से लिया है—

कंठ कुठार परै अब हार कि फूलै असोक कि सोक समूरो।
कै चितसारि चढ़ै कि चिता, तन चंदन-चर्चि कि पावक-पूरो॥
लोक में लोक बड़ो अपलोक सु केसवदास जु होउ सु होऊ।
विप्रन के कुल को भृगुनंदन! सूर न सूरज के कुल कोऊ॥

तुलसीदास तथा केशवदासजी ने संस्कृत-ग्रंथों से स्थल चुनते समय शब्दशः अनुवाद के सिद्धांत का पालन नहीं किया है। उनका उद्देश्य भावों को काव्योचित ढंग से अपनी भाषा में व्यक्त करना मात्र था। तुलसीदास में इस विषय में हम एक विशेषता पाते हैं। वे गृहीत भावों को और भी सुंदर बना देते थे। कभी-कभी मूल ग्रंथों में भी जो त्रुटियाँ रह गई उनका भी परिमार्जन, संशोधन करके उनको ग्रहण करते थे। एक दो उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देंगे। लक्ष्मण शक्ति लगने से मूर्छित हो गए थे। हनुमानजी की लाई हुई औषधि से वे एकदम चंगे होकर उठ बैठे। उनको देखने से यह पता ही नहीं लगता था कि अभी कुछ देर पहले उनपर बड़ी विपत्ति पड़ी थी। राम भी उनकी धीरता को देखकर आश्चर्य में पड़ जाते हैं और उनसे पूछते हैं—

'वत्स! एतावतीं वेदनां न वेत्सि।'

लक्ष्मण तुरंत उत्तर देते हैं—

ईषन्मात्रमहं वेद्मि स्फुटं यो वेत्ति राघवः
वेदना राघवेन्द्रस्य केवलं व्रणिनो वयम्।—हनुमन्नाटक

तुलसी ने इस भाव को बहुत ही परिमार्जित करके तथा स्वाभाविक बनाकर यों व्यक्त किया है—

हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरे,
पाइ सजीवनि जागि कहत यों
प्रेम पुलकि बिसराइ सरीरे।

लक्ष्मण जब होश में आते हैं तो देखते हैं कि राम उनके लिए विलाप कर रहे हैं। अतः उनका यह कहना 'हृदय घाउ मेरे पीर रघुबीरे'

कितना स्वाभाविक हुआ है और असंगति अलंकार में भी कैसी संगति आ गई है।

तुलसीदास जब मूल की कथा-धारा में अथवा किसी कल्पना में परिवर्तन करते हैं तो या तो किसी त्रुटि के निराकरण के लिए या मूल के भाव को परिमार्जित करने को।

चंद्रहास हर मे परितापं, रामचंद्रविरहानलजातम्।

—प्रसन्नराघव।

सीता के इस कथन में आधुनिक समाज की दृष्टि से एक दोष है। स्त्रियाँ प्रायः अपने पति का नाम नहीं लेतीं। पर यहाँ 'रामचंद्र' नाम का प्रयोग किया गया है जो उचित नहीं हुआ। तुलसी ने इस त्रुटि को कैसी चतुरता से दूर किया—

चंद्रहास हरु मम परितापं, रघुपति-बिरह-अनल संजातं।

जब रावण-वधादि के पश्चात् सीता की अग्नि-परीक्षा हो चुकती है उस समय 'हनुमन्नाटक' में लिखा है कि सीता भगवान का चरण-स्पर्श नहीं करतीं। इसका कारण यह बताया गया है कि कहीं सीता की मणियाँ भगवान के स्पर्श से सुंदरियाँ न हो जावें—

श्रीरामे दयिताविनोदविपुलप्रीतिप्रभूतीभव,
स्प्रस्वेदाम्बुकणावृतास्यकमले दिव्योत्थिता जानकी।
आगम्याशु ससंभ्रमं बहुतरां भक्तिं दधाना पुन—
रतत्पादौ मणिकंकणोज्ज्वलकरा नैव स्पृशत्यद्भुतम्॥

सीता राम के साथ इतने दिन रह चुकी थीं अतः यहाँ पर यह संकोच अस्वाभाविक है क्योंकि अब तक न जाने कितनी बार वे चरण-स्पर्श कर चुकी होंगी। तुलसी ने देखा कि भाव तो सुंदर है परंतु समुचित स्थान में न होने से एक प्रकार की अस्वाभाविकता आ गई है। उन्होंने इस अस्वाभाविकता को दूर कर दिया। विवाह-विधि समाप्त होने पर जब सीता की सखियाँ चरण-स्पर्श करने को कहती हैं तो सीता संकोच-वश ऐसा नहीं कर रही है—

गौतम तिय-गति सुरति करि, नहिं परसति पग पानि।
मन बिहँसे रघुबंसमनि, प्रीति अलौकिक जानि॥

यहाँ तुलसी ने कितने थोड़े में ग्रंथ के भाव को ले लिया है। सीता के संकोच का कारण क्या है इसके अलग स्पष्टीकरण की आवश्यकता ही नहीं रही। 'हनुमन्नाटक' में स्पष्टीकरण के बाद भी एक प्रश्न रही जाता है। सीता के इस व्यवहार का भगवान पर क्या प्रभाव पड़ा? उन्होंने सीता को कहीं अशिष्ट तो नहीं समझ लिया? तुलसी ने इस प्रश्न का अवसर ही नहीं रहने दिया। स्वयं उत्तर दे दिया कि भगवान ने इसे भी लोकोत्तर प्रीति का परिचायक ही समझा—

मन बिहँसे रघुबंस-मनि प्रीति अलौकिक जानि।

तुलसी की योग्यता दिखाना इस अध्याय का विषय नहीं है। अतः उसपर अधिक कहना भटकना ही कहा जायगा। पर संभवतः केशव की योग्यता की परीक्षा भी इस तुलना से अधिक सरलतापूर्वक हो सकेगी। केशव ने मूल के भावों को भी कभी-कभी ऐसे स्थानों पर रख दिया कि उनकी कांति बढ़ने के बदले और भी फीकी पड़ गई है। सुंदर-से-सुंदर भाव भी अनुकूल परिस्थितियों की आकांक्षा रखता है। कथरी में रेशम के बूटे शोभा नहीं बढ़ाते, किंतु अनुपयुक्त ही प्रतीत होते हैं। यही अवस्था केशव ने मूल के भावों की की है। जिन भावों को उन्होंने परिस्थितियों अर्थात् कथा-प्रसंग के सहित उठा लिया है वहाँ तो ठीक है परंतु जहाँ उन्होंने प्रसंग को खंडित कर मनमानी भूमि पर मूल के भाव को खड़ा किया है वहाँ वह भाव मुँह बनाए हुए बैठा प्रतीत होता है। एक उदाहरण लीजिए। 'हनुमन्नाटक' में जब रावण रणभूमि में जाता है तो महोदर से पूछता है—

रावणः—महोदर! रामः कुत्रास्ते?

महोदरः—देव! पश्य—

अङ्के कृत्वोत्तमाङ्गं प्लवगबलपतेः पादमक्षस्य हन्तु-
र्भूमौ विस्तारितायां त्वचि कनकमृगस्याङ्गशेषं निधाय।

वार्य रक्षःकुलघ्नं प्रगुणितमनुजेनार्पितं तीक्ष्णमक्ष्णोः
कोणेनोद्वीक्ष्यमाणस्त्वदनुजवचने दत्तकर्णोऽयमास्ते ॥

इस भाव को केशव ने लिया है। 'रामचंद्रिका' में रावण अपने दूत को राम के पास कुछ समाचार लेने को भेजता है। जब दूत लौटकर आता है तो रावण पूछता है कि तुमने राम को कैसे देखा। दूत उत्तर देता है—

भूतल के इंद्र भूमि पौढ़े हुते रामचंद्र,
मारिच कनक-मृगछालहि बिछाए जू।
कुंभहर-कुंभकर्न-नासाहर-गोद सीस
चरन अकंप अक्ष-अरि-उर लाए जू॥
देवांतक-नारांतक-अंतक त्यों मुसकात
बिभीषन-बैन-तन कानन रुखाए जू।
मेघनाद-मकराक्ष-महोदर-प्रानहर-बान
त्यों बिलोकत परम सुख पाए जू॥

दोनों उद्धरणों से राम का प्रताप सूचित होता है। परंतु परिस्थिति-भेद से एक में अनौचित्य है दूसरे में औचित्य तथा स्वाभाविकता। 'हनुमन्नाटक' में तो राम सामने बैठे हैं और महोदर उनको दिखाकर जैसा देखता है वैसा वर्णन करता है। 'रामचंद्रिका' में दूत को सामने बैठे हुए राम की ओर संकेत नहीं करना है। ऐसी अवस्था में उसका रावण के सामने राम का ऐसे प्रतापपूर्ण रूप में वर्णन करना ठीक नहीं हुआ। वह आखिर रावण का दूत था। उसी के सामने वह राम को 'भूतल का इंद्र' कहता है। इससे दूत में अशिष्टता-सी प्रतीत होती है।

चरित्र-चित्रणवाले अध्याय में यह दिखाया गया था कि केशव की सीता बहुत-कुछ राधा-सी हो जाती हैं। जगज्जननी जानकी की जिस रूप में तुलसी ने प्रतिष्ठा की उस रूप में केशव न कर पाए। इसका कारण रामचंद्रिका के दो वर्णन हैं जो केशवदासजी ने प्रसन्नराघव से लिए हैं। नाटक के उत्तरदायित्व तथा प्रबंध-काव्य के उत्तरदायित्व में भेद है। नाटक में बहुत सी बातों का दायित्व पात्रों पर रहता है, परंतु प्रबंध-

काव्य में जब कवि किसी बात को पात्रों-द्वारा न कहलाकर स्वयं कहता है तो उस बात का संपूर्ण बोझ कवि पर पड़ता है। परंतु केशव ने इसकी चिंता न की। वे दोनों वर्णन 'प्रसन्नराघव' के मूल के साथ उद्धृत किए जाते हैं।

(१) मारग की रज तापित है अति 'केसव' सीतहिं सीतल लागति।
    प्यौ-पद-पंकज ऊपर पायनि दै जु चलै तेहि ते सुखदायनि॥

—रामचंद्रिका।

अप्युच्चण्डैस्तपनकिरणैरतापितायां पृथिव्या-
    मप्यन्येषां कठिनवपुषां दुर्गमे मार्गसीम्नि।
प्रेमार्द्रेण प्रगुणितधृतश्चेतसा शीतशीता-
    न्मेने सीता प्रियतमपदैरङ्कितान्भूमिभागान्॥

—प्रसन्नराघव।

(२) मग को श्रम श्रीपति दूर करैं सिय को, सुभ बालक अंचल सों।
    श्रम तेऊ हरैं तिनको कहि केसव चंचल चारु दृगंचल सों॥

—रामचंद्रिका।

कान्तोनाथ प्रणयमधुरं किंचिदाचञ्चलेन
    श्रान्ता श्रान्ता जनकतनया वल्कलस्याञ्चलेन।
चक्रे वीतश्रमजलकणस्निग्धमुग्धाननश्रीः
    श्रांतः श्रान्तः स पुनरनया लोचनस्याञ्चलेन॥

"अप्युच्चण्डैः" इत्यादि से यह भाव नहीं निकलता कि सीता ठीक भगवान के पादांकित स्थानों को कुचल-कुचलकर चल रही थीं। संभवतः श्लोक की ध्वनि यही है कि प्रेम के कारण सीता उन स्थानों को सुखद मान रही थीं जिनपर भगवान स्वयं चल रहे थे। मूल के भाव में तथा केशव की छाया में कितना अंतर हो गया। सीता के चरित्र पर इसका कैसा प्रभाव पड़ता है!

केशव ने रावण में राजनीति दक्षता दिखाई है। रावण अंगद को

पितृवध का स्मरण दिलाकर अपनी ओर मिला लेना चाहता है। रावण राम पर भी दाँव चलाना चाहता है और परशुराम के फरसे को पाने के लिए चाल चलता है। इन सब चालों का आधार केशवदास को हनुमन्नाटक में मिला—

रावण—उरसि अंगद लाज कछू धरौ,
जनक घातक बात वृथा कहौ।

—रामचंद्रिका

धिग्धिगङ्गद मानेन येन ते निहतः पिता।
निर्माना वीरवृत्तिस्ते तस्य दूतत्वमागतः॥

—हनुमन्नाटक।

इसी नाटक में रावण फरसा की माँग कर रहा है—

'अये राम! जामदग्न्यं निर्जित्य यस्त्वया हरप्रसाद—
परशुर्गृहीतस्तं रावणाय प्रयच्छ ततस्तव सीतां प्रयच्छामि'

होइ जु होनी सु ह्वैई रहै न मिटै जिय कोटि विचार विचारो।
दै भृगुनंदन को परसा रघुनंदन सीतहि लै पगु धारो॥

—रामचंद्रिका।

केशव के रावण-अंगद तथा रावण-हनुमान संवादों पर भी हनुमन्नाटक का प्रभाव पड़ा है। बहुत से छंद तो मूल के अनुवाद मात्र ही हैं। दो एक उदाहरण—

(१) कस्त्वं बालितनूद्भवो रघुपतेर्दूतः सः बालीति कः
कोवा बानर राघवः समुचिता ते बालिनो विस्मृतिः।
त्वां बध्वा चतुरम्बुराशिषु परिभ्राम्यन्मुहूर्तेन यः
संध्यामर्चयति स्म निष्प कथं तातस्त्वया विस्मृतः॥

—हनुमन्नाटक।

कौन के सुत? बालि के, वह कौन बालि न जानिए?
काँख चाँपि तुम्है जो सागर सात न्हात बखानिए॥

है कहाँ वह ? बीर अंगद देवलोक बताइयो ।
क्यों गयो ? रघुनाथ-बान-बिमान बैठि सिधाइयो ॥

—रामचंद्रिका

(२) आदौ वानरशावकः समतरद्दुर्लंघ्यमम्भोनिधिं
दुर्भेद्यान्प्रविवेश दैत्यनिवहान्संप्रेक्ष्य लङ्कापुरीम् ।
छित्त्वा तद्वनरक्षिणो जनकजां दृष्ट्वा तु भुक्त्वा वनं
हत्वाऽक्षं प्रदहन्पुरीं च स गतो रामः कथं वर्ण्यते ॥

—हनुमन्नाटक ।

श्री रघुनाथ को बानर 'केसव' आयो हो एक न काहू हयो जू ।
सागर को मद झारि चिकारि त्रिकूट की देह बिहारि गयो जू ॥
सीय निहारि सँहारि कै राक्षस सोक असोक-बनीहि दयो जू ।
अक्षकुमारहि मारिकै लंकहि जारि कै नीकेहि जात भयो जू ॥

—रामचंद्रिका ।

राम-वनवास के बाद जब भरत लौटकर आते हैं तो वे राम के विषय में कैकेयी से समाचार पूछते हैं । उस स्थल पर प्रश्नोत्तर-समन्वित एक श्लोक 'हनुमन्नाटक' में आया है जिसका बहुत सफल अनुवाद केशव ने किया है—

मातस्तातः क यातः सुरपति भुवनं हा कुतः पुत्रशोका-
त्कोऽसौ पुत्रश्चतुर्णां त्वमवरजतया यस्य जातः किमस्य ।
प्राप्तोऽसौ काननान्तं किमिति नृपगिरा किं तथासौ बभाषे
मद्वाग्बद्धः फलं ते किमिह तव धराधीशता हा हतोऽस्मि ॥

मातु कहाँ नृप ? तात गए सुरलोकहि, क्यों ? सुत-सोक लए ।
सुत कौन सु ? राम, कहाँ है अबै ? बन लच्छन सीय समेत गए ॥
बन काज कहा कहि ? केवल मो सुख, तोको कहा सुख यामें भए ?
तुमको प्रभुता, धिक तोकों कहा अपराध बिना सिगरेई हए ॥

नीचे 'हनुमन्नाटक' से कुछ श्लोक तथा 'रामचंद्रिका' से कुछ छंद मिलाने के लिए दिए जाते हैं—

एनां व्याहर मैथिलाधिपसुते नामान्तरेणाधुना ।
रामस्त्वद्विरहेण कंकणपदं ह्यस्यै चिरं दत्तवान् ॥
तुम पूछत कहि मुद्रिके, मौन होति यहि नाम ।
कंकन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम ॥

रामादपि च मर्तव्यं मर्तव्यं रावणादपि ।
उभयोर्यदि मर्तव्यं वरं रामो न रावणः ॥

जानि चल्यो मारीच मन, मरन दुहूँ विधि आसु ।
रावन के कर नरक है, हरि कर हरि-पुर-बास ॥

एषा पञ्चवटी रघूत्तम कुटी यत्रास्ति पञ्चावटी ।
पान्थस्यैकघटी पुरस्कृततटी संश्लेषभित्ती वटी ॥
गोदा यत्र नदी तरङ्गिततटी कल्लोलचञ्चत्पुटी ।
दिव्यामोदकुटी भवाब्धिशकटी भूतक्रियादुष्कुटी ॥

सब जाति फटी दुख की दुपटी कपटी न रहै जहँ एक घटी ।
निघटी रुचि मीचु घटीहु घटी जगजीव जतीन की छूटी तटी ॥
अघ-ओघ की बेरी कटी बिकटी निकटी प्रकटी गुरु-ज्ञान गटी ।
चहुँ ओरन नाचति मुक्ति-नटी गुन-धूरजटी बन पंचवटी ॥

'हनुमन्नाटक' के पश्चात् दूसरा संस्कृत ग्रंथ जिसकी 'रामचंद्रिका' ऋणी है जयदेव कृत 'प्रसन्नराघव' नाटक है। 'रामचंद्रिका' के तृतीय, चतुर्थ, पंचम तथा सप्तम प्रकाश की संपूर्ण कथा का क्रम, मुख्य-मुख्य स्थल, तथा सुंदर उक्तियाँ सब 'प्रसन्नराघव' के अनुसार हैं। तृतीय प्रकाश में स्वयंवर की प्रस्तावना है। जनक की सभा में दो वंदीजन थे जो राजाओं का वर्णन करते थे।

सभामध्य गुनग्राम, वंदीसुत द्वै सोभहीं ।
सुमति विमति यहि नाम, राजन को बर्नन करहिं ॥

ये दोनों वंदीजन परस्पर प्रश्नोत्तर के क्रम से स्वयंवर में आए हुए राजाओं का वर्णन करते हैं तथा राजा जनक की प्रतिज्ञा की घोषणा करते हैं। यह संपूर्ण प्रसंग प्रायः इसी रूप में 'प्रसन्नराघव' के प्रथम अंक में

आया है। भेद केवल इतना है कि वहाँ के नूपुरक तथा मंजीरक यहाँ सुमति-विमति हो गए हैं।

नटति नरकराग्रव्यग्रसूत्राग्रलग्न-
द्विपदशनशलाका मञ्चपाञ्चालिकेयम्।
त्रिपुरमथनचापारोपणोत्कण्ठिताना-
मतिरभमसवतीव क्ष्माभृतां चित्तवृत्तिः॥

—प्रसन्नराघव।

नचति मंच पंचालिका कर संकलित अपार
नाचति है जनु नृपन की चित्तवृत्ति सुकुमार।

—रामचंद्रिका।

'वयस्य मञ्जीरक! कोऽयं सीताकर ग्रहवासनावसन्तलक्ष्मीविलसत्पुलकमुकुलजालमण्डितं निजभुजसहकारशाखियुगलं विलोकयंस्तिष्ठति।'

को यह निरखत आपनी, पुलकित बाहु बिसाल।
सुरभि स्वयंबर जनु करी, मुकलित साख रसाल॥

—रामचंद्रिका।

आकर्णान्तं त्रिपुरमथनोद्दण्डकोदण्डनद्धां
मौर्वीमुर्वीवलयतिलकः कोऽपि यः कर्षतीह।
तस्यायान्ती परिसरभुवं राजपुत्री भवित्री।
कूजत्काञ्चीमुखरजघना श्रोत्रनेत्रोत्सवाय॥

—प्रसन्नराघव।

कोउ आजु राज-समाज में बल संभु को धनु कर्षिहै।
पुनि स्रौन के परिमान तानि सो चित्त में अति हर्षिहै॥
वह राज होइ कि रंक केशवदास सो सुख पाइहै।
नृपकन्यका यह तासु के उर पुष्पमालहि नाइहै॥

—रामचंद्रिका।

पश्य पश्य सुभटैः स्फुटभावं भक्तिरेव गमिता न तु शक्तिः ।
अंजलिर्विरचितो ननु मुष्टिर्मौलिरेव नमितो न तु चापः ॥

—प्रसन्नराघव ।

सक्ति करी नहिं भक्ति करो अब ।
सो न नयो तिल सीस नए सब ॥

'रामचंद्रिका' के चौथे प्रकाश में रावण तथा बाणासुर आते हैं तथा इनकी परस्पर कूटनीति-युक्त बातचीत होती है । यह प्रसंग भी 'प्रसन्न-राघव' के प्रथम अंक के अनुसार है । केशव ने लिखा है कि रावण और बाणासुर की विचित्र आकृतियाँ देखकर वहाँ के सब लोग डर गए—

है राकस दससीस को, दैयत बाहु हजार,
कियो सबन के चित्त रत, अद्भुत-भय संचार ।

परंतु 'प्रसन्नराघव' में सब लोगों के डरने का वर्णन नहीं है, केवल नूपुरक डरता है और मंजीरक से अपनी रक्षा को कहता है तथा मंजीरक उसे सांत्वना देता है ।

मंजीरकः—अलं कातरतया । सकलवीरवृन्दवन्दनीया हि बन्दिजातिः । तत्कथमस्म द्विधेषु सकलभुवनैकवीरो विपरीतं वर्तिष्यते दशकन्ठः ।

बाण—'अये, बहुमुखता नाम बहुप्रलापितायाः कारणम्'

—प्रसन्नराघव ।

बहुत बदन जाके, बिबिध बचन ताके ।

—रामचंद्रिका ।

रावण—अति असार भुज भार ही, बली होहुगे बान । 'आः, कथं रे, पलालभार निस्सारेण भुजभारेण वीरंमन्योऽसि ।'

बाणः—अलमलीकवाग्विग्रहेण । तदिदं धनुरावयोस्तारतम्यं निरूपायष्यति ।

हमहिं तुमहिं नहिं बूझिए, बिक्रम-बाद अखंड ।
अबही यह कहि देइगो, मदन कदन-कोदंड ॥

त्रिपुरमथनचापारोपणोत्कण्ठता धी-
मम न जनकपुत्री पाणिपद्मग्रहाय।
अपितु बहुलबाहुव्यूहनिर्व्यूहमाला-
बलपरिमलहेलाताण्डवाडम्बराय ॥ प्र० राघव।

'केसव' और ते और भई गति जानि न जाय कछू करतारी।
सूरन के मिलिबे कहँ आय मिल्यो दसकंठ सदा अविचारी॥
बाढ़ि गयो बकवाद वृथा यह भूलि न भाट सुनावहि गारी।
चाप चढ़ाइहौं कीरति को यह राज करै तेरी राजकुमारी॥

—रामचंद्रिका।

बाणस्य बाहुशिखरैः परिपीड्यमानं
नेदं धनुश्चलति किंचिदपीन्दुमौलेः।
कामातुरस्य वचसामिव संविधानै-
रभ्यर्थितं प्रकृतिचारुमनः सतीनाम्॥

कोटि उपाय किए कहि 'केशव' केहूँ न छाँड़त भूमि रतीको।
भूरि बिभूति-प्रभाव सुभावहि ज्यों न चलै चित योग-यतीको॥

—रामचंद्रिका।

डगै न संभु सरासन कैसे। कामी-बचन सती-मन जैसे।

— रामचरित मानस।

रावण यह प्रतिज्ञा करके बैठ जाता है कि जब तक मैं अपने किसी सेवक की आर्त वाणी न सुनूँगा तब तक यहाँ से न जाऊँगा। इतने ही में कहीं किसी ने एक राक्षस को बाण से मार दिया और वह चिल्लाने लगा। उसकी चिल्लाहट सुनकर रावण उसकी रक्षा करने के बहाने वहाँ से चला जाता है। यह कल्पना भी 'प्रसन्नराघव' के प्रथम अंक की है—

अब सीय लिये बिन हौं न टरौं।
कहुँ जाहुँ न तो लगि नेम धरौं॥
जब लौं न सुनौं अपने जन कों।
अति आरत सब्द हते तनको॥

अनाहृत्य हठात्सीतां नान्यतो गन्तुमुत्सहे ।
न शृणोमि यदि क्रूरमाक्रन्दमनुजीविनः ॥

'रामचंद्रिका' के पाँचवें अंक के प्रारंभ में वर्णन है कि जनकपुर में सबको यह चिंता होने लगी कि अब सीता का विवाह किसके साथ होगा—क्योंकि धनुष तो किसी से टूटता ही नहीं था—तो एक ऋषि-पत्नी एक राजकुमार का चित्र लेकर आई जो राम की आकृति का था। यह कल्पना भी 'प्रसन्नराघव' के प्रथम अंक में है। वहाँ कालत्रयदर्शिनी सिद्धयोगिनी मैत्रेयी देवी ने वह चित्र अंकित करवाया था। इसके आगे भी पंचम प्रकाश में विश्वामित्र तथा जनक की बात-चीत की जितनी कथा है वह 'प्रसन्नराघव' के तृतीय अंक से मिलती है। बहुत-से श्लोक तो एक दम अनुवाद करके रख दिए गए हैं—

अंग छ सातक आठक सों भव तीनहु लोक में सिद्ध भई है।
बेदत्रयी अरु राजसिरी परिपूरनता सुभ योगमई है॥

अंगैरंगीकृता यत्र षड्भिः सप्तभिरष्टभिः।
त्रयी च राजलक्ष्मीश्च योगविद्या च दीव्यति॥

जिन अपनो तन स्वर्न, मेलि तपोमय अग्नि में।
कीन्हों उत्तम बर्न, तेई विश्वामित्र ये॥

यः कांचनमिवात्मानं निक्षिप्याग्नौ तपोमये।
वर्णोत्कर्षं गतः सोऽयं विश्वामित्रो मुनीश्वरः॥

राम ! हत्यो मारीच जेहि अरु ताड़का सुबाहु।
लच्मण को यह धनुष दै तुम पिनाक को जाहु॥

मारीचमारीचतुरं सुबाहोरपवारणम्।
न्यस्यतां लक्ष्मणकरे ताटकाताडनं धनुः॥

'रामचंद्रिका' का सातवाँ प्रकाश 'प्रसन्नराघव' नाटक के चतुर्थ अंक के अनुसार है। केशव ने लिखा है कि परशुराम को पहिले यह भ्रम हो गया कि शंकर के धनुष को रावण ने तोड़ा है। इस भ्रम का कारण यह था कि बामदेव तो यह कहना चाहते थे कि धनुष राम ने तोड़ा है, परंतु

इनके मुँह से 'राम' यह पूरा नाम निकलने ही नहीं पाता केवल 'रा' अक्षर सुनते ही परशुराम समझ लेते हैं कि अपराधी रावण है। ऐसे ही भ्रम का वर्णन 'प्रसन्नराघव' में भी है परंतु कुछ भिन्न प्रकार से। वहाँ परशुराम पूछते हैं कि धनुष किसने तोड़ा तो तांडायन उत्तर देते हैं—

सुबाहुमारीचपुरःसरा अमी,
निशाचराः कौशिकयज्ञघातिनः।

वशे स्थिता यस्य—

बस, तांडायन के मुँह से इतना निकलते ही परशुराम समझ लेते हैं कि अपराधी रावण है। वास्तव में उपर्युक्त श्लोक का भाव राम तथा रावण दोनों की ओर लगाया जा सकता है। परशुराम—

अति कोमल नृप सुवन की ग्रीवा दली अपार।
अब कठोर दसकंठ के काटहु कंठ कुठार॥

नृपशतसुकुमारकंठनालीकदनकला कुशलः परश्वधो मे।
दशवदनकठोरकंठपीठीकदनविनोदविदग्धतां दधातु॥

राम के स्वरूप को देखकर परशुराम मुग्ध हो जाते हैं और कहते हैं—

बालक बिलोकियत पूरन पुरुष गुन,
मेरो मन मोहियत ऐसो रूप धाम है।
बैर जिय जानि वामदेव को धनुष तोरो,
जानत हौं बीसबिसे रामवेष काम है॥

यह कल्पना भी 'केशवदास ने 'प्रसन्नराघव' से ली है परंतु वहाँ बड़े सुंदर ढंग से आई है। परशुराम कहते हैं—

'अर्धमुग्धः खल्वयं जनो यदेन काम इति वक्तव्ये राम इति जल्पति'

परशुराम् के स्वरूप का वर्णन—

कुसमुद्रिका समधैं श्रुवा कुस औ कमंडल को लिए।
कटिमूल श्रोननि तर्कसी भृगुलात-सी दरसै हिये॥
धनु बान तिच्छ कुठार 'केसव' मेखला मृगचर्म स्यों।
रघुबीर को यह देखिए रस बीर सात्विक धर्म स्यों॥

मौर्वीधनुस्तनुरियं च विभर्ति मौञ्जी
वाणाः कुशाश्च विलसन्ति करे सितायाः
धारोज्ज्वलः परशुरेष कमण्डलुश्च
तद्वीर शान्तरसयोः किमयं विकारः ॥

मिलान करने को यहाँ कुछ स्थल ही उद्धृत किए जा सकते थे। 'प्रसन्नराघव' तथा 'रामचंद्रिका' तथा इन दोनों ग्रंथों का साम्य देखा जा सकता है। और भी संस्कृत-साहित्य के अनेक ग्रंथ हैं जिनका प्रभाव केशवदास के ग्रंथों पर पड़ा है। संस्कृत-साहित्य से हिंदी का सदा से पोषण होता आया है। तुलसी, सूर, बिहारी इत्यादि अनेक कवियों ने संस्कृत की उक्तियों को लिया है।

---

१०. आध्यात्मिक सिद्धान्त

श्रुति तथा स्मृतियों का आश्रय लेकर जो संप्रदाय भारतवर्ष में प्रतिष्ठित हुए उनमें अद्वैतवाद तथा द्वैतवाद के अनुसार दो मुख्य शाखाएँ हुईं। 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इत्यादि स्पष्ट अद्वैत के समर्थक वचन मिलने पर आगे चलकर आचार्यों ने अनुभव किया कि पारमार्थिक दृष्टि से जीव-ब्रह्म की सत्ता एक होने पर भी उपासना की दृष्टि से यह आवश्यक है कि जीव और ब्रह्म दोनों भिन्न मान लिए जावें। प्रथम तो इस बात का प्रयास नहीं किया गया कि इस द्वैतवाद की सत्ता श्रुति-स्मृति के पुष्ट प्रमाणों पर रखी जावे, परंतु आगे चलकर उपासना-मार्ग के आचार्यों को द्वैतवाद का इतना आग्रह हुआ कि उन्होंने अद्वैतवाद का खंडन कर अपने वाद को ही श्रुति-स्मृतियों से प्रमाणित सिद्ध कर देना चाहा। इन दोनों के प्रमाणभूत ग्रंथ वेद, उपनिषद् तथा व्यासराज ही हैं। परंतु

दृष्टिभेद से इन्हीं तीनों का आधार लेकर एक-दूसरे से नितांत भिन्न प्रतीत होते हुए दो संप्रदाय समानांतर चलने लगे। अभी कुछ दिन हुए स्वामी वल्लभाचार्यजी ने द्वैत-अद्वैत के पार्थक्य को बहुत कुछ दूर कर देने का सफल प्रयत्न किया। द्वैतवाद की शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर प्रतिष्ठा हो जाने पर भी भारत की जनता अपने पुराने संस्कार को हटा न सकी। यह पुराना संस्कार वही था जिसकी पुनः स्थापना बौद्धों के शून्यवाद के स्थान पर स्वामी शंकराचार्य ने की थी। यह था वैदिक ब्रह्मवाद। मुसलमानों का कट्टर एकेश्वरवाद भी इस 'तत्वमसि' के सामने ठहर न सका। मुसलमानी संस्कारों में पले हुए लोगों के मुँह से भी ऐसे उद्गार निकलने ही लगे—"तू तू करता तू भया मुझमें रहा न हूँ। वारी तेरे नाम पर जित देखूँ तित तूँ।" पारमार्थिक दृष्टि से अद्वैतवाद जनता को स्वीकृत होते हुए भी भक्तिमार्ग में सेवक-सेव्य-भाव की स्थापना हुए बिना न रह पाई। इसी बात का स्पष्ट संकेत तुलसीदासजी ने भी जो संपूर्ण जगत को 'सियाराम मय' जानते थे और जिन्होंने घट घट में उसी एक के दर्शन किए थे, इन शब्दों में किया है।

सेवक सेव्य-भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।

इसीसे मिलता-जुलता भाव प्रायः भक्तिमार्ग के सब कवियों का था। वे पारमार्थिक दृष्टि से तो जीव-ब्रह्म का एकत्व मानते थे, परंतु लौकिक दृष्टि से भगवान का दास ही होकर रहना अधिक पसंद करते थे। केशव के आध्यात्मिक सिद्धांत 'रामचंद्रिका के' २५ वें प्रकाश में तथा 'विज्ञान-गीता' में मिलते हैं। राम-वशिष्ठ के संवाद में उन्होंने अपने आध्यात्मिक पक्ष को स्पष्ट कर दिया है—

सब जानि बूझियत मोहिं राम,
सुनिए सो कहौं जग ब्रह्मनाम।
जिनके अशेष प्रतिबिंब-जाल,
ते जीव जान जग में कृपाल॥

इसमें गीता की इस पंक्ति की छाया पड़ी है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

केशवदासजी जीव को ब्रह्म का प्रतिबिंब मानते हैं। उनका सिद्धांत दूसरे द्वैतवादी भक्तों की अपेक्षा अद्वैतवाद के बहुत पास ही नहीं पहुँच जाता, अद्वैतवाद ही हो जाता है।

ब्रह्म-जीव का विचार करने के बाद जगत् का प्रश्न आता है। कुछ वेदांती जगत को मिथ्या मानते हैं और कुछ कहते हैं कि जगत ब्रह्म की कृति है परंतु इसके स्वरूप में कोई चिरस्थायी वास्तविकता नहीं तथा इस नामरूपात्मक आवरण के परे जो सत्ता है वही सत्य है। जगत् को मिथ्या माननेवालों में भी दो संप्रदाय हैं। एक कहता है कि जिस प्रकार स्वप्न में नाना दृश्य दिखाई पड़ते हैं परंतु उनमें वास्तविकता नहीं होती उसी प्रकार यह जगत् भी हमारी कल्पना की सृष्टि है इसमें कोई यथार्थ सत्ता नहीं। दूसरे कहते हैं कि जगत् को मिथ्या कहने का यह भाव नहीं कि यह है ही नहीं, मिथ्या से केवल इतना तात्पर्य है कि यह नाम-रूपात्मक जगत नश्वर तथा परिवर्तनशील है। केशवदासजी जगत् को काल्पनिक नहीं बताते, वे इसे भगवान की रचना कहते हैं—

तुम्हहीं जु रची रचना विचारि, तेहि कौन भाँति समझौं मुरारि।

परंतु वे भी इस संसार को झूठा ही कहते हैं और झूठा कहने से उनका तात्पर्य केवल यह है कि यह नश्वर है तथा इसके नाम और रूप क्षणभंगुर हैं। वे कहते हैं कि यह सत्य-सा प्रतीत होता है क्योंकि यह किसी सच्चे की रचना है—

झूठो है रे झूठो जग राम की दोहाई,
काहू साँचे की कियो ताते साँचो सो लगत है।

केशव संसार से संतुष्ट नहीं प्रतीत होते। स्थान-स्थान पर संसार के लिए उनके जो उद्गार निकलते हैं उनसे यही प्रतीत होता है कि वे संसार को अत्यंत दुःखमय समझते थे। संसार के विषय में वे कैसे निराशावादी थे यह उनकी इस पंक्ति से स्पष्ट हो जायगा—

सुमति महामुनि सुनिए, जग महँ सुःख न गुनिए।

वे तृष्णा तथा कामवासना को जीव के मार्ग में बड़ा भारी बाधक मानते थे। देखिए तृष्णा को कितने भयानक रूप में सामने लाते हैं—

पाइ बड़ो कहुँ घाट न केसव, क्यों तरि जाय तरंगिनि तृष्ना।

'काम' एक भयानक डाकू के रूप में उपस्थित किया जाता है—

और को 'केसव' लूटतो जन्म अनेकन के तपसान को पोतो।
तौ सम लोक सबै जग जातो जु काम बड़ो बटपार न होतो॥

कवि काम, क्रोध इत्यादि को डाकू, चोर इत्यादि के रूप में भयानकता प्रकट करने तथा हमारे हृदयों में उनके प्रति विरक्ति उत्पन्न करने में शीघ्र समर्थ होता है। काम क्रोध इत्यादि के बीच में फँसे हुए बेचारे जीव को देखिए यहाँ कैसी दुर्दशा हो रही है—

खैंचत लोभ दसौ दिसि कौ, गहि मोह महा इत फाँसिहि डारे।
ऊँचे ते गर्व गिरावत, क्रोधहु जीवहि लूहर लावत भारे॥
ऐसे में कोढ़ की खाज ज्यौं केसव मारत कामहु बान निनारे।
मारत पाँच करे पँचकूटहि कासों कहै जग जीव बिचारे॥

संसार के दुःखों को देख उनके हृदय में वैराग्य की एक अखंड धारा बहा करती थी जिसका आभास हमको उनके ग्रंथों में स्थान-स्थान पर मिलता है। जिन विषयों का उनके हृदय से सामंजस्य था उनका वर्णन उन्होंने बड़ी सरलता तथा सहृदयता से किया है। स्थान-स्थान पर उनकी वैराग्य-सिक्त तथा उदासीनता की उक्तियाँ उनके हृदय की एक विशेष वृत्ति की ओर संकेत करती हैं। वे अपने चित्त को बार-बार यम-लोक की याद दिलाते हुए पाए जाते हैं—

हाथी न साथी न घोरे न चेरे गाँव न ठाँव को नाम बिलैहै।
तात न मात न मित्र न पुत्र न वित्त न अंगहू संग न रहै॥
केसव काम को राम बिसारत और निकाम न कामहि ऐहै।
चेत रे चेत अजौं चित अंतर अंतक लोक अकेलोहि जैहै॥

संसार के इस दुःख से छुटकारा पाने के लिए वे बताते हैं कि सुख

तथा दुःख में एक समान रहता हुआ जो अहंकार छोड़ देता है उसे परम पद अवश्य प्राप्त होता है—

राग दोष बिन कैसेहुँ, धर्माधर्म जु होय।
हर्ष सोक उपजै न मन, कर्त्ता महा सु लोय॥
भोज अभोज न रत बिरत, नीरस सरस समान।
भोग होय अभिमान बिन, महाभोगि तेहि मान॥

तथा—

आपुन सो अवलोकिए, सबही युक्त-अयुक्त।
अहंभाव मिटि जाय जो, कौन बद्ध को मुक्त॥

गीता में अनासक्तियोग अथवा निष्काम कर्मयोग का जो सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है उसी का समर्थन तथा प्रतिपादन केशवदास ने किया है। उनकी विवेचन-शैली भी शास्त्रीय है। नीचे की पंक्तियों में उन्होंने अपने सिद्धांत को और भी स्पष्ट कर दिया है—

निशि-बासर वस्तु बिचार करैं मुख साँच हिए करुना धन है।
अघ निग्रह संग्रह धर्म कथान परिग्रह साधुन को गनु है॥
कहि केशव योग जगै हिय भीतर, बाहर भोगन स्यों तनु है।
मन हाथ सदा जिनके तिनको बन ही घर है, घर ही बनु है॥

साधुओं की संगति, शम, संतोष तथा विचार इन चारों को वे मुक्तिपुरी के प्रतिहार मानते हैं—

मुक्ति पुरी बर द्वार के, चार चतुर प्रतिहार।
साधुन को सत्संग सम, अरु संतोष बिचार॥

—रामचंद्रिका।

यही दोहा कुछ परिवर्तित रूप में विज्ञान गीता में भी आया है—

मुक्तिपुरी दरबार के, चारि चतुर प्रतिहार।
साधुन के शुभ संग अरु, सम संतोष बिचार॥

—विज्ञानगीता।

यद्यपि आगे चलकर भक्ति-मार्ग में प्राणायाम इत्यादि करने की इतनी आवश्यकता नहीं समझी गई परंतु भागवत में अष्टांग योग के प्रकरण में प्राणायाम इत्यादि पर बहुत जोर डाला गया है। इतना भेद अवश्य है कि भागवत में वर्णित अष्टांगयोग हठयोग से बहुत दूर रहता है। केशवदासजी ने भी प्राणायाम को आवश्यक माना है। रामचंद्रिका तथा विज्ञानगीता दोनों ग्रंथों में प्राणायाम के प्रकरण को उन्होंने उठाया है।

जो चाहै जीवन अति अनंत, सो साधै प्राणायाम मंत।
सुभ पूरक कुंभक मान जानि, अरु रेचकादि सुखदानि मानि॥

—रामचंद्रिका।

तथा—

क्रम-क्रम साधै देह एहि, केसव प्राणायाम।
कुंभक पूरक रेचकनि तौ साधै मन काम॥

—विज्ञानगीता।

स्थान-स्थान पर उन्होंने पूजा की आवश्यकता भी बताई है। परंतु यह पूजा आजकल की पूजा से भिन्न है। रामचंद्रिका में शिव के मुँह से पूजा की व्याख्या की गई है—

पूजा यहै उर आनु। निर्व्याज धरिए ध्यानु॥
यों पूजि घटिका एक। मनु किए याग अनेक॥

—रामचंद्रिका।

इसी पूजा को कुछ और विस्तृत रूप में विज्ञान गीता में लिखा है—

आनहु ज्योति हिऐं अविनासी। अच्छ निरंजन दीप प्रकासी॥
निश्चल वेद समाधि विहारै। वासना अंग पतगनि जारै॥
सुद्ध स्वभाव के नीर नहावै। पूरन प्रेम समाधिहि लावै॥
मूल चिदानँद फूलनि पूजै। और न केसव पूजन दूजै॥

वे जीव के बंधन का मुख्य कारण मन को मानते थे। मन के अंदर

जो नाना वासनाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं वे जन्म-मरण की धारा को शुष्क नहीं होने देतीं—

जग को कारन एक मन, मन को जीत अजीत।

परंतु इस मन को वश में करना अत्यंत कठिन है, इस बात को वे अच्छी तरह समझते थे। इसलिए उन्होंने कहा है कि धीरे-धीरे इस ओर प्रयत्न होता रहेगा तो कभी-न-कभी मन अवश्य वश में हो जावेगा। मन के वश में हो जाने से सब इंद्रियाँ उसी प्रकार वश में आ जावेंगी जिस प्रकार सर्प का मंत्र जाननेवाले के वश में विषधर सर्प हो जाते हैं—

हरैं हरैं मनु ऐंचिकै, कोजै मन को हाथ।
इंद्रिय सर्प समान हैं, गारुड़ मन के साथ॥

—विज्ञानगीता।

परंतु इन सब बातों के साथ-साथ वे भक्ति की तथा नामस्मरण की आवश्यकता भी समझते थे। इसीलिए ऐसे उद्‌गार प्रकट किए हैं—

सबको साधन एक जग, राम तिहारो नाम।

—रामचंद्रिका।

जब सब बेद-पुरान नसैहै। जप तप तीरथहू मिटि जैहै।
द्विज सुरभी नहिं कोउ बिचारै। तब जग केवल नाम उधारै॥

—रामचंद्रिका।

यह सब होते हुए भी केशव के ग्रंथों में भक्ति की वह गंभीरता तथा सरसता नहीं है जो तुलसी इत्यादि कवियों में पाई जाती है।

---

११. कुछ उद्वेगजनक बातें

व्यासजी ने 'अग्निपुराण' में दोषों का लक्षण करते समय उन्हें 'उद्वेगजनक' कहा है और दोषों के सात विभाग किए हैं। इसमें संदेह

नहीं कि उन सात प्रकारों के अंतर्गत प्रायः सभी दोष आ जाते हैं, परंतु फिर भी जिस प्रकार काव्य के गुणों की गणना नहीं हो सकती उसी प्रकार दोष भी नहीं गिने जा सकते। अलंकार तथा भावव्यंजना इत्यादि अध्यायों में बहुत से दोषों की चर्चा हो चुकी है, यहाँ केवल उन्हीं बातों पर प्रकाश डाला जायेगा जो पहले नहीं उठाई गई हैं; परंतु, जिनके कारण सभ्य तथा सहृदय पाठकों के हृदय में एक प्रकार की खिन्नता तथा कुरुचि उत्पन्न होती है। दोषों की व्याख्या करते समय केशव-दासजी ने स्वयं कहा है—

> राजत रंच न दोषयुत, कविता बनिता मित्र।
> बुंदक हाला परत ज्यों, गंगाजल अपवित्र॥

जिस प्रकार एक बूँद मदिरा पड़ने से गंगाजल अपवित्र हो जाता है उसी प्रकार जरा-सा भी दोष होने से कविता अपने उद्देश्य से पतित हो जाती है। फिर भी न जाने क्यों दोषों के इस भयानक प्रभाव को जानते हुए भी केशवदास अपनी कविता में उन्हें न बचा सके। केशव के कुछ समर्थक विद्वानों का मत है कि केशव काव्य-शास्त्र के आचार्य थे अतः उनके लिए यह अनिवार्य कर्तव्य था कि वे दोषों के भी उदाहरण रखते। रीति-ग्रंथों की रचना करने में ऐसे तर्कों से काम लिया जा सकता है परंतु शुद्ध काव्य के क्षेत्र में जब कोई कवि उतरता है तो उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपनी कविता में दोष भी रखे। ऐसी अवस्था में यही प्रतीत होता है कि वे अपनी असमर्थता से इन दोषों को न बचा सके। दोषों का बाहुल्य उनके ग्रंथों में इतना अधिक है कि वह सुंदर स्थलों पर भी अपना प्रभाव डालता है और वे स्थल उतने चमकने नहीं पाते।

अच्छे से अच्छा उपदेश यदि किसी अनधिकारी के द्वारा दिया जाता है तो उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। कोई पुत्र अपनी माता अथवा पिता को शिक्षा दे तो उसका प्रभाव कैसा पड़ेगा! रामचंद्रजी

पिता की आज्ञा से वन को जा रहे हैं। उस समय वे कौशल्या को पातिव्रत का उपदेश दे रहे हैं—

> नित पति पंथहिं चलिए। दुख सुख को दल दलिए।
> तन-मन सेवहु पति को। तब लहिए सुभ गति को॥
> जोग जाग व्रत आदि जु कीजै। न्हान गान-गुन दान जु दीजै।
> धर्म कर्म सब निष्फल देवा। होहिं एक फल कै पतिसेवा॥

वास्तव में उपदेश बहुत सारगर्भित है और भगवान् रामचंद्र स्वयं दे रहे हैं, परंतु भगवान होने पर भी वे कौशल्या के पुत्र हैं, अतः उनके मुँह से माता को यह उपदेश फबता नहीं। एक बात और है, कौशल्या ऐसी साध्वी स्त्री को किसी के भी द्वारा पातिव्रत का उपदेश अप्रासंगिक ही होगा, क्योंकि जब उपदेश दिया जाता है तो यह पहले मान लिया जाता है कि उस व्यक्ति को उपदेश की आवश्यकता है। परंतु यहाँ कोई ऐसी बात न थी। तुलसीदास ने भी सीता के सामने अनुसूया के द्वारा पातिव्रत पर कुछ शिक्षाएँ दिलवाई थीं। उन शिक्षाओं के अंत में तुलसीदासजी की अनुसूया सीता से यह कहना नहीं भूली कि यह उपदेश तुम्हारे बहाने साधारण स्त्रियों को दिया गया है। यही कारण है कि अनुसूया द्वारा दिया हुआ उपदेश खटकता नहीं।

केशवदास सनाढ्य ब्राह्मण थे। अपनी जाति के प्रति प्रायः मनुष्यों में कुछ पक्षपात होता ही है। परंतु जिस ढंग से केशवदासजी ने सनाढ्यों के महत्त्व को बढ़ाने का प्रयत्न किया है वह बहुत उचित नहीं हुआ। 'रामचंद्रिका' में स्थान-स्थान पर सनाढ्यों का गुण-गान किया गया है। प्रारंभ ही में गणेश, सरस्वती तथा रामवंदना के बाद केशव यही घोषणा करते हुए दिखाई पड़ते हैं—

> सनाढ्यजाति गुनाढ्य है, जग सिद्ध सुद्ध स्वभाव।

जब रामचंद्रजी 'उपयुक्त दानी कौन है' इस विषय में प्रश्न करते हैं तो भरद्वाज ऋषि भी—जिनके समय में सनाढ्य, कान्यकुब्ज इत्यादि

जातियों के उपभेद न हुए होंगे—सनाढ्यों की हो सिफारिश करने लगते हैं—

> तातें ऋषिराज सबै तुम छाँड़ौ, भूदेव सनाढ्यन के पद माँड़ौ ।
>
> सनाढ्य जाति सर्वदा, यथा पुनीत नर्वदा ।
>
> भजैं सजैं ते संपदा, विरुद्ध ते असंपदा ॥
>
> सनाढ्य-वृत्ति जो हरै, सदा समूल सो जरै ।
>
> अकाल मृत्यु सो मरै, अनेक नर्क सो परै ॥
>
> सनाढ्य-पूजा अघ-ओघ हारी । अखंड आखंडल-लोकधारी ॥
>
> अशेष लोकावधि भूमिचारी । समूल नासै नृप दोषकारी ॥

केशवदासजी ने प्राचीन आचार्यों के समान काल-विरोध दोष स्वयं माना है, परंतु अपने काव्य में इस दोष को बचाने की आवश्यकता नहीं समझी । पांडवों का वर्णन—जो कि एक युग के पश्चात् हुए थे—रामचंद्रजी के समय में किया गया है । दिवाली में जुआ खेलने की प्रथा तथा फाल्गुन की अश्लीलता आजकल की बातें हैं, उस समय इनकी चर्चा करना बहुत खटकता है । यवन, जैन तथा वाममार्गियों का वर्णन त्रेतायुग में कर दिया गया है—

> पांडव की प्रतिमा सम देखो । अर्जुन भीम महामति लेखो ॥
>
> फागुहि निलज लोग देखिए । जुवा दिवारी को लेखिए ॥
>
> यमनादि के अपवाद क्यों द्विज छोड़िहै कपिलाहि ।
>
> दूषत जैन सदा सुभ गंगा । छोड़हुगे बहु तुंग तरंगा ॥
>
> निंदत हैं तव नामहिं बामी । का कहिए तुम अंतर्यामी ॥

मठधारियों से केशवदासजी बहुत अप्रसन्न रहते थे । इसका वास्तविक कारण क्या था यह तो नहीं कहा जा सकता, परंतु मठाधीशों की निंदा उन्होंने स्थान स्थान पर की है और श्वानवाले प्रसंग की कल्पना तो संभवतः इसीलिए की गई है । मठों की स्थापना बहुत पिछले समय में बौद्धों के अनुकरण पर शंकराचार्यजी के समय से होने लगी थी । अतः मठाधीशों का वर्णन त्रेतायुग में ठीक नहीं हुआ ।

ग्यारसि मिदत हैं मठधारी, भावत है हरिभक्तन भारी।
मेरो भायो करहु जो, रामचंद्र हित मंडि।
कीजै द्विज यहि मठपती, और दंड सब छंडि॥

किस देश में कौन-कौन वस्तुएँ होती हैं, इस बात पर ध्यान न रख जो वर्णन किया जाता है उसमें देश-विरोध-दोष हो जाता है। केशवदासजी ने भी ऐसे वर्णनों को दोषयुक्त माना है और दोष के उदाहरण में लिखा है—

मलयानिल मन हरत हठि, सुखद नर्मदा-कूल।
सुवन सघन घनसारमय, तरुवर तरल सुफूल॥

पर अपने वर्णन में इस बात पर ध्यान न रख कि कहाँ कौन-कौन वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं कहना प्रारंभ कर देते थे—

एला ललित लवग, संग पुंगीफल सोहैं।

उन वनों में ये वस्तुएँ तो संभवतः न उत्पन्न होती होंगी।

सीता की अग्नि-परीक्षा के समाप्त होते ही, इंद्र, वरुण, ब्रह्मा इत्यादिक देवता दशरथ जी को लिए दिए वहाँ आ पहुँचते हैं।

इंद्र वरुन यम सिद्ध सब, धर्म-सहित धनपाल।
ब्रह्म रुद्र लै दसरथहिं, आइ गए तेहि काल॥

और इन लोगों ने साक्षी दी कि सीता संतत शुद्ध हैं। बस, यह सुनते ही सीता को 'श्रीरामचंद्र हँसि अंक-लगाय लीन्हों।' चाहे उस समय पर्दा की प्रथा न रही हो, परंतु फिर भी गुरुजनों के संमुख ऐसा आलिंगन उस समय भी बहुत उचित नहीं समझा जाता रहा होगा। कभी-कभी तो वे सामाजिक शिष्टता की ओर इतना ध्यान रखते हैं कि छोटी-से-छोटी बात को भी लिखने से नहीं चूकते और कभी-कभी ऐसे महत्व के स्थलों पर चूक जाते हैं। रामचंद्र जी के अयोध्या लौटने के समय जब शत्रुघ्न लक्ष्मण के पैर धोने को आते हैं तो लक्ष्मण राम के सामने पैर धुलवाना अनुचित समझ ओट में जाकर पैर धुलवाते हैं—

पीछे दुरि सत्रुघ्न सों, लखन भोवाए पायँ।

यहाँ तो केशव को इस शिष्टता का भी ध्यान रहा और वहीं ब्रह्मा इत्यादि के सामने राम के द्वारा सीता का आलिंगन करवाया।

---

१२. कविप्रिया तथा संस्कृत के आचार्य

'कविप्रिया' में केशव ने सोलह प्रभाव रखे हैं। पहले दो प्रभावों में कवि ने अपने तथा अपने आश्रयदाता के वंशों का सविस्तर वर्णन किया है। तीसरे प्रभाव से वास्तविक पुस्तक प्रारम्भ होती है। तीसरे प्रभाव में काव्य-दोषों का वर्णन किया गया है। केशव ने सब मिलाकर अठारह दोष माने हैं। वे दोष ये हैं—

अंध बधिर अरु पंगु तजि, नग्न मृतक मतिसुद्ध।
अंध-बिरोधी पंथ को बधिर सु सब्द-बिरुद्ध॥
छंद-बिरोधी पंगु गनि, नग्न जु भूषनहीन।
मृतक कहावै अर्थ बिनु, 'केसव' सुनहु प्रवीन॥

अंध, बधिर, पंगु, नग्न और मृतक ये पाँच दोष हुए। इन नामों का उल्लेख संस्कृत के किसी आचार्य ने नहीं किया है, संभवतः ये केशव की उद्भावना के फल हैं। 'मृतक दोष' केशव ने वहाँ माना है जहाँ वास्तव में कोई अर्थ न हो, परंतु जब तक शब्दों का कुछ अर्थ न निकले तब तक काव्य-संज्ञा ही नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में 'मृतक-दोष' काव्य का दोष नहीं है। अलंकार रहित कविता को केशव ने 'नग्न दोष' युक्त माना है। संस्कृत के आचार्यों की प्रायः संमति है कि अलंकार काव्य की शोभा-वृद्धि में सहायक तो अवश्य होते हैं परंतु ये काव्य के अनिवार्य धर्म नहीं हैं। अलंकारों की योजना के बिना भी काव्य हो सकता है। यही बात मम्मट ने 'अनलंकृती पुनः क्वापि' के द्वारा कही है। दंडी ने भी अलंकारों को काव्य का अनिवार्य अंग नहीं माना है। उनकी

अलंकारों की साधारण परिभाषा से ही यह ध्वनि निकलती है ! वे कहते है—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते'। ऐसा ही आचार्य वामन की संमति है। ऐसी अवस्था में केशव का यह 'नग्न दोष' भी व्यर्थ हो जाता है। 'पंगु दोष' के अंतर्गत 'छंदोभंग' 'यतिभंग' इत्यादि दोष आ जाते हैं। केशव का 'वधिर दोष' दंडी के 'ग्राम्यता दोष' से मिल जाता है। 'अंध दोष' वहाँ माना गया है जहाँ कवि को कवि-संप्रदाय में एक प्रकार से मान ली गई बातों का ज्ञान नहीं होता।

इन दोषों के अतिरिक्त तेरह निम्नलिखित और दोष भी माने गए हैं। (१) अगन, (२) हीनरस, (३) यतिभंग, (४) व्यर्थ, (५) अपार्थ, (६) हीनक्रम, (७) कर्णकटु, (८) पुनरुक्ति, (९) देश-विरोध, (१०) काल-विरोध, (११) लोक-विरोध, (१२) न्याय-विरोध, (१३) आगम-विरोध। इनमें से बहुत-से दोष दंडी के अनुसार हैं। दोषों के उदाहरण भी केशव ने 'काव्यादर्श' से अनुवाद करके रख दिए हैं। केशव का 'यतिभंग दोष' दंडी का 'यतिभ्रंश' है। केशव के तथा दंडी के लक्षण मिलते हैं। व्यर्थ, अपार्थ, देश-विरोध, काल-विरोध, नीति-विरोध तथा आगम-विरोध दोष भी दंडी के अनुसार हैं। लक्षण तथा कहीं-कहीं उदाहरण भी दंडी से मिलते हैं। कुछ उदाहरण मिलाइए—

व्यर्थ—

एक कवित्त प्रबंध में, अर्थ-विरोध जु होय।
पूरब पर अनमिल सदा, व्यर्थ कहै सब कोय।।—केशव।

एकवाक्ये प्रबन्धे वा पूर्वापरपराहतम्।
विरुद्धार्थतया व्यर्थमिति दोषेषु पठ्यते ।।—दंडी।

व्यर्थ का उदाहरण—

सब सत्रु सँहारहु जीव न मारहु, सजि योधा उमराव।
कोउ न रिपु तेरो सब जग हेरो, तुम कहियत अति साधु ।।

—केशव।

जहि शत्रुबलं कृत्स्नं जय विश्वम्भरामिमाम् ।
तव नैकोऽपि विद्वेष्टा सर्वभूतानुकम्पिनः ॥—दंडी ।

अपार्थ दोष—

अर्थ न जाको समुझिए, ताहि अपारथ जान ।
मतवारो उन्मत्त सिसु-के-से बचन बखान ॥—केशव ।

समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थमितीष्यते ।
उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति ॥—दंडी ।

इस लक्षण में केशव दंडी की दूसरी पंक्ति का भाव अनुवाद में नहीं ला सके। दंडी का भाव यह है कि उन्मत्त इत्यादि की उक्ति में तो यह बात स्वाभाविक होती है। इनके अतिरिक्त यदि अर्थशून्यता हो तो दोष है।

अपार्थ दोष का उदाहरण—

पिए लेत नर सिंधु कहँ, है अति सज्वर देह ।
ऐरावत हरि भावतो, देख्यो गाजत मेह ॥—केशव ।

समुद्रः पीयते देवैरहमस्मि ज्वरातुरः ।
अमी गर्जन्ति जीमूता हरेरैरावणः प्रियः ॥—दंडी ।

यह 'अपार्थ दोष' केशव के 'मृतक दोष' को व्यर्थ कर देता है।

काल-विरोध दोष का उदाहरण—

प्रफुलित नव नीरज रजनि, बासर कुमुद बिसाल ।
कोकिल सरद, मयूर मधु, बरषा मुदित मराल ॥—केशव ।

पद्मिनी नक्तमुन्निद्रा स्फुटत्यह्नि कुमुद्वती ।
मधुरुत्फुल्लनिचुला निदाघो मेघ दुर्दिनः ॥—दंडी ।

केशव का 'लोक-विरोध' दंडी का 'कला-विरोध' दोष है। केशव के 'अगण' को दंडी का 'वृत्तभंग' मान सकते हैं।

आगम-विरोध का उदाहरण—

पुनि लीबो उपवीत हम, पढ़ि लीजे सब बेद ।—केशव ।

असावनुपनीतोऽपि वेदानधिजगे गुरोः।
स्वभावशुद्धः स्फटिको न संस्कारमपेक्षते ॥—दंडी।

इस प्रकार मिलाने से यह निष्कर्ष निकलता है कि केशव ने अपना दोष-प्रकरण दंडी के अनुसार लिखा है और प्रायः लक्षण तथा उदाहरण अनुवाद करके रख दिए हैं।

चौथे प्रभाव में केशव ने लिखा है कि कवि तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम, मध्यम तथा अधम। उत्तम भगवान के विषय में कविता करते हैं, मध्यम धन, यश इत्यादि के लाभ के लिए मनुष्यों का गुणगान किया करते हैं तथा अधम वे हैं जो लोगों के दोषों का वर्णन करते हैं। केशव ने तीन प्रकार की कवि-रीतियाँ मानी हैं। कुछ सच्ची बातों को झूठ वर्णन करना, कुछ झूठी बातों को सत्य मानकर वर्णन करना तथा कुछ बातों को एक काल्पनिक नियम के अनुसार सांप्रदायिक ढंग से वर्णन करना। ये ही तीन कवि-रीतियाँ हैं। यह संपूर्ण चतुर्थ प्रभाव केशव मिश्रकृत 'अलंकार-शेखर' नामक ग्रंथ के १५ वें अध्याय के अनुसार है। स्थान-स्थान पर तो स्पष्ट अनुवाद लक्षित होता है। यहाँ कुछ मिलते हुए पद्य उदाहरण के लिए उद्धृत किए जाते हैं—

साँची बात न बरनहीं, झूठी बरननि बानि।
एकनि बरनैं नियम कै, कबिमत त्रिविध बखानि ॥—कविप्रिया।

असतोऽपि निबन्धेन सतामप्यनिबन्धनात्।
नियमस्य पुरस्कारात्सम्प्रदायस्त्रिधा कवेः ॥—अलंकार-शेखर।

झूठ का सत्य—

जहँ-जहँ बर्नत सिंधु सब, तहँ-तहँ रतननि लेख।
सुलभ सरबरहू कहैं, 'केसव' हंस बिसेखि ॥—कविप्रिया।

रत्नानि यत्र तत्रादौ हंसाद्यल्पजलाशये ॥—अलंकार-शेखर।

लेन कहैं भरि मूठि तम, सूजनि सियनि बनाय।
अंजुलि भरि पीवन कहैं, चंद्र चंद्रिका पाय ॥—कविप्रिया।

तिमिरस्य तथा मुष्टिग्राह्यत्वं सूचिभेद्यता।—अलंकार-शेखर।

नियमबद्ध वर्णन—

वर्नंत चंदन मलय ही, हिमगिरि ही भुजपात ।
वर्नंत देवन चरन तें, सिर तें मानुष गात ॥—कविप्रिया ।
हिमवत्येव भूर्जत्वक् चंदनं मलये परम् ।
मानवा मौलितो वर्ण्या देवाश्चरणतः पुनः ॥—अलंकार-शेखर ।
कोकिल को कल बोलिबो, वरनत है मधुमास ।
बर्षा ही हरषित कहै, केकी केसवदास ॥—कविप्रिया ।
वर्षास्वेव शिखिप्रौढिर्मधावेव पिकध्वनिः ।—अलंकार-शेखर ।
ईस सीस ससि वृद्ध को, बरनत बालक बानि ।—कविप्रिया ।
चिरंतनस्यापि तथा शिवचंद्रस्य बालता ।—अलंकार-शेखर ।

इन सब काव्य की नियमबद्ध बातों का वर्णन 'अलंकार-शेखर' इत्यादि ग्रंथों में बहुत विस्तार से किया गया है, परंतु केशव ने केवल दो चार बातें लिखकर केवल मार्ग दिखा दिया है ।

केशव ने दो प्रकार के अलंकार माने हैं। सामान्य तथा विशेष । सामान्यालंकार के चार भेद किए गए हैं ।

सामान्यालंकार को, चारि प्रकार प्रकास ।
बर्न, बर्न्य, भूराज औ, भूषन केसवदास ॥

वर्ण—अर्थात् रंग-ज्ञान । इसका वर्णन पाँचवें प्रभाव में है । इसमें यह बताया गया है कि कवियों को किन किन वस्तुओं को किस रंग की वर्णन करना चाहिए ।

वर्ण्य—इसका वर्णन छठे प्रभाव में है । इसमें इस बात को शिक्षा दी गई है कि कौन-सी वस्तुएँ किस-किस आकार की वर्णित होनी चाहिएँ ।

भूमिश्री—इसका वर्णन सप्तम प्रभाव में है । इसमें इस बात की शिक्षा दी गई है कि कवियों को किन-किन प्राकृतिक वस्तुओं का वर्णन करना चाहिए तथा प्रत्येक में किन-किन विशेषताओं के उल्लेख की आवश्यकता है ।

राज्यश्री—इसका वर्णन आठवें प्रभाव में है। इसमें राजमंत्री इत्यादि के वर्णन करने की शिक्षा दी गई है।

चौथे प्रभाव से अष्टम प्रभाव तक केशव को आचार्य दंडी से सहायता नहीं मिली है। ये प्रकरण अमर-रचित 'काव्यकल्पलतावृत्ति' तथा केशव मिश्रकृत 'अलंकार-शेखर' के आधार पर लिखे गये हैं। 'अलंकार-शेखर' के कर्ता ने भी 'काव्यकल्पलतावृत्ति' से सहायता ली है।

केशवदास ने काव्य में सात रंगों के वर्णन की आवश्यकता मानी है और यह बताया है कि कौन-कौन वस्तुएँ किस-किस रंग की होनी चाहिएँ। इस विषय का वर्णन 'अलंकार-शेखर' के सत्रहवें प्रकरण में तथा 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के तृतीय प्रतान में है। छठा प्रभाव वर्ण्यों की आकृति के विषय में है। इसका वर्णन 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के चतुर्थ प्रतान में है। सातवें प्रभाव में प्राकृतिक दृश्यों इत्यादि के वर्णन की परिपाटी बताई गई है। इन प्राकृतिक दृश्यों में केशव ने निम्नलिखित वस्तुओं को माना है—

देस नगर बन बाग गिरि, आश्रम सरिता ताल।
रबि ससि सागर भूमि के, भूषन ऋतु सब काल॥

इनमें से प्रत्येक को लेकर यह भी बताया गया है कि किस-किस के वर्णन में किन-किन दृश्यों का उल्लेख करना चाहिए। आठवें प्रभाव में राजा तथा उससे संबंध रखनेवाले मंत्री इत्यादि के वर्णन की रीति बताई गई है।

राजा, रानी, राजसुत, प्रोहित, दलपति, दूत।
मंत्री, मंत्र, प्रयान, हय, गय, संग्राम प्रभूत॥
आखेटक, जलकेलि पुनि, बिरह, स्वयंवर जानि।
भूषित सुरतादिकनि करि, राज्यश्रीहि बखानि॥

इन सबका आधार 'अलंकार-शेखर' का सोलहवाँ प्रकरण तथा 'काव्यकल्पलतावृत्ति' का प्रथम प्रतान है। 'अलंकार-शेखर' ने संभवतः

स्वयं ये प्रकरण 'काव्यकल्पलतावृत्ति' से लिए हैं। कविप्रिया से इन ग्रंथों का मिलान करने के लिए संपूर्ण स्थल उद्धृत करने से अनावश्यक विस्तार होगा। उदाहरण के लिए कुछ स्थल दिए जाते हैं—

बाग-वर्णन—

ललित लता तरुवर कुसुम, कोकिल कलरव मोर।
बरनि बाग अनुराग स्यों, भँवर भँवत चहुँ ओर॥—कवि-प्रिया।
उद्याने सरणिः सर्वफलपुष्पलतादयः।
पिकालिकेलिहंसाद्याः क्रीडाचाप्यध्वगस्थितिः॥—अलंकार-शेखर।

गिरि-वर्णन—

तुंग शृंग दीरघ दरी, सिद्ध सुंदरी धातु।
सुर नर युत गिरि बनिए, औषध निर्झरपातु॥—कवि प्रिया।
शैले महौषधीधातुवंशकिन्नरनिर्झराः।
शृङ्गपादगुहारत्नवनजीवाद्युपत्यकाः॥—अलंकार-शेखर।

आश्रम-वर्णन—

होम धूमयुत वर्निए, ब्रह्मघोष मुनिवास।
सिंहादिक मृग मोर अहि, इभ सुभ बैरबिनास॥
आश्रमेऽतिथिपूजैणविश्वासो हिंस्रशान्तता।
यज्ञधूमो मुनिसुता द्रूसेको वल्कलं द्रुमाः॥—अलंकार-शेखर।

रानी-वर्णन—

सुंदरि सुखद पतिव्रता, सुचि रुचि सील समान।
यहि बिधि रानी बरनिए, सलज सुबुद्धि-निधान॥—कवि-प्रिया।
देव्यां सौभाग्यलावण्यशीलशृंगारमन्मथाः।
त्रपाचातुर्यदाक्षिण्यप्रेममानव्रतादयः॥—अलंकार-शेखर।

इस प्रकार चौथे से लेकर आठवें प्रभाव तक की सामग्री केशवदास-ने केशव मिश्र रचित 'अलंकार-शेखर' अथवा अमर रचित 'काव्यकल्प-

लतावृत्ति' से ली है। आगे के प्रकरण प्रायः दंडी के 'काव्यादर्श' के आधार पर हैं। परंतु आगे के प्रकरणों में भी एक स्थल पर इन दोनों ग्रंथों से सहायता ली गई है। ग्यारहवें प्रभाव में केशवदास ने 'गणना' नाम का एक अलंकार माना है। यह वास्तव में कोई अलंकार नहीं है। इसमें केशव ने एक से लगाकर दस तक की संख्यावाली वस्तुएँ गिनाई हैं। इसका वर्णन 'अलंकार-शेखर' के अठारहवें अध्याय में हुआ है, परंतु वह वर्णन बहुत संक्षिप्त है। केशवदासजी ने प्रत्येक संख्या के अंतर्गत अपेक्षाकृत अधिक वस्तुओं का नामोल्लेख किया है। यही प्रकरण 'काव्यकल्पलतावृत्ति' में चतुर्थ प्रतान में उठाया गया है तथा इसका बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है। 'कविप्रिया' में संभवतः इसीसे सहायता ली गई है। प्रायः संपूर्ण वर्णन इस ग्रंथ से मिल जाता है।

'कविप्रिया' के नौवें प्रभाव से लेकर पंद्रहवें प्रभाव तक काव्य के वास्तविक अलंकारों का वर्णन है, जिनका नाम केशव ने 'विशेषालंकार' रखा है। इन्होंने सब मिलाकर सैंतीस अलंकार माने हैं। इनमें प्रायः अलंकारों की परिभाषाएँ तथा उदाहरण दंडी के 'काव्यादर्श' से मिलते हैं।

नौवें प्रभाव में निम्नलिखित छः अलंकारों का वर्णन है—स्वभावोक्ति विभावना, हेतु, विरोध, विशेष तथा उत्प्रेक्षा। स्वभावोक्ति अलंकार दंडी तथा मम्मटादि सब आचार्यों से मिलता है। दंडी ने विभावना के दो भेद माने हैं। केशव ने भी दंडी के अनुसार दो ही भेद माने हैं। केशव ने दंडी के उदाहरण का अनुवाद नहीं किया है, परंतु अपने उदाहरणों को उनके भावों के आधार पर बनाया है। दंडी के विभावना के दो भेद कारणांतर विभावना तथा स्वाभाविकत्व विभावना हैं। स्वाभाविकत्व विभावना वह है जहाँ बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति हो।

अनञ्जिताऽसिता दृष्टिर्भ्रूरनावर्जिता नता।
अरञ्जितोऽरुणश्चायमधरस्तव सुंदरि ॥—दंडी।

इसी को केशव ने इस प्रकार लिखा है—

भृकुटी कुटिल जैसी तैसी न करेहू होहि,
आँजी ऐसी आँखें केशोराय हेरि हारे है।
काहे को सिँगार कै बिगारति है अंग आली,
तेरे अंग बिना ही सिँगार के सिँगारे है।

केशव ने 'हेतु' अलंकार के दो भेद माने हैं। एक 'सभाव हेतु', दूसरा 'अभाव हेतु'। 'सभाव हेतु' दंडी के 'कारक हेतु' से मिलता है। दंडी ने 'कारक' तथा 'ज्ञापक' दो हेतु माने हैं। कारक हेतु के दो उपभेद किए हैं—भाव साधन में कारक हेतु तथा अभाव साधन में कारक हेतु। केशव ने 'अभाव साधन' में कारक हेतु को अभाव हेतु मानकर जो उदाहरण दिया है वह बतलाता है कि उन्होंने उसका भाव नहीं समझा। उनका उदाहरण विभावना का हो गया है। उदाहरण यह है—

जान्यो न मैं मद यौवन को उतरो कब काम को काम गयोई।
छाँड़न चाहत जीव कलेवर जोर कलेवर छाँड़ि दयोई॥
आवत जात जरा दिन लीलत, रूप जरा सब लीलि लियोई।
'केशव' राम ररौं न ररौं अनसाधे ही साधन सिद्ध भयोई॥

बिना साधन के कार्य होना 'विभावना' का क्षेत्र है। केशवदास ने स्वयं ऐसा ही माना है—'कारज को बिन कारनहिं उदौ हित जेहि ठौर'। उपर्युक्त उदाहरण में 'अनसाधे ही साधन सिद्ध भयोई' स्पष्ट घोषणा करता है कि यह 'विभावना' है।

दंडी ने 'विरोधाभास' अलंकार को अलग नहीं माना है, 'विरोध' के अन्तर्गत ही लिया है। केशव ने यद्यपि 'विरोधाभास' अलग माना है, परंतु उनका 'विरोध' का उदाहरण विरोधाभास का उदाहरण हो गया है। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपने उदाहरण को दंडी की छाया पर बनाया है। मिलाइए—

परी मेरी सखी तेरी कैसे कै प्रतीत कीजै,
कृसनानुसारी दृग करनानुसारी है॥—केशव।

कृष्णार्जुनानुरक्ताऽपि दृष्टिः कर्णावलम्बिनी।
याति विश्वसनीयत्वं कस्य ते कलभाषिणि॥—दंडी।

यह उदाहरण केशव ने 'विरोध' अलंकार के उदाहरण में दिया है। यहाँ विरोध-सा प्रतीत होता है, परंतु विचार करने से विरोध नहीं रहता, केवल विरोध का आभास मात्र है। अतः यह 'विरोधाभास' अलंकार हो गया है। केशव की निम्नलिखित परिभाषा के अनुसार भी यह 'विरोधाभास' ही ठहरता है—

बरनत लगै बिरोध सो, अर्थ सबै अविरोध।
प्रगट विरोधाभास यह, समुझत सबै सुबोध॥

विरोध तथा विरोधाभास में उन्होंने बहुत अस्पष्टता कर दी है। उनका तात्पर्य न तो उदाहरणों से ज्ञात होता है न लक्षणों से। 'विरोध' का जो दूसरा उदाहरण दिया गया है वह 'विभावना' हो गया है। लाला भगवानदीनजी ने भी उस उदाहरण को 'विभावना' का ही माना है। उन्होंने लिखा है—'पर चूँकि पुस्तक में यह छन्द विरोध के उदाहरण में दिया गया है, अतः कोई चारा नहीं।'

केशव के 'विशेषालंकार' का लक्षण विभावना के एक भेद का-सा हो गया है—

साधक कारन बिकल जहँ, होय साध्य की सिद्धि।
केसवदास बखानिए, सो विसेप परसिद्धि॥

इसी प्रकार की उनकी 'विभावना' की परिभाषा है—

कारज को बिन कारनहि, उदौ होत जेहि ठौर।
तासों कहत विभावना, केसव कवि सिरमौर॥

साधक कारन विकल जहँ' में 'बिकल' का अर्थ यदि अभाव न लें, केवल 'अपूर्ण' लें तो भी यह 'विभावना' ही रहेगी क्योंकि अपूर्ण कारण से कार्य होने में भी एक प्रकार की 'विभावना' है।

केशव का 'उत्प्रेक्षालंकार' दंडी से नहीं मिलता।

दसवें प्रभाव में 'आक्षेप' अलंकार का वर्णन है। इसका विस्तार केशव ने दंडी के अनुसार किया है। परंतु केशव प्रायः किसी अलंकार का प्राणतत्त्व नहीं समझ पाते थे। वे ऊपरी ढाँचे को पकड़ने का प्रयत्न

करते थे। यही बात आक्षेप अलंकार के प्रकरण में हुई। आक्षेप अलंकार का लक्षण दंडी ने यों दिया है—'प्रतिषेधोक्तिराक्षेपः' इसकी व्याख्या श्रीजीवानंद विद्यासागर ने यों की है—'वक्तु'' प्रारब्धस्यापि विशेषद्योतनार्थं निषेध भाषणं, न तु तत्त्वतः प्रतिषेधः तात्विकत्वे वैचित्र्याभावात्' अर्थात् वास्तविक निषेध में अलंकार की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक वैचित्र्य का अभाव रहता है। परंतु केशव ने वास्तविक निषेध को ही आक्षेप समझ लिया था जैसा कि उनके भूतकाल प्रतिषेध के उदाहरण से प्रतीत होता है—

> बरज्यो हौं हरि त्रिपुरहर, तारक करि भ्रू भंग।
> सुनो मदनमोहनि, मदन ह्वै ही गयो अनंग॥

यहाँ पर 'बरज्यो' के द्वारा व्यक्त होनेवाला निषेध वास्तविक है जो अलंकार के लिये आवश्यक नहीं। ऐसा ही आगे भी प्रायः स्थलों पर हुआ है। दंडी ने आक्षेप के चौबीस भेद किए हैं। केशव ने केवल बारह माने हैं। केशव के छः भेदों का दंडी के भेदों से नामसाम्य है। वर्तमानाक्षेप, भविष्यदाक्षेप, संयशाक्षेप, आशिषाक्षेप, धर्माक्षेप, उपायाक्षेप। इनमें से चार—आशिषाक्षेप, वर्तमानाक्षेप, भविष्यदाक्षेप—नाम तथा लक्षण और उदाहरणों में दंडी से मिलते हैं शेष दो का केवल नामसाम्य है। वास्तव में उनके लक्षण तथा उदाहरण दंडी से भिन्न हैं। दंडी के धर्माक्षेप का तात्पर्य केशव ने नहीं समझा। दंडी का धर्म शब्द से कोमलता इत्यादि धर्म-गुणों का तात्पर्य है, परंतु केशव ने पातिव्रत धर्म इत्यादि तात्पर्य समझा है। दंडी का उदाहरण यह है।

> तव तन्वङ्गि! मिथ्यैव रूढमङ्गेषु मार्दवम्।
> यदि सत्यं मृदून्येव किमकाण्डे रुजन्ति माम्॥

केशव ने धर्माक्षेप का तात्पर्य क्या समझा है यह उनके लक्षण से स्पष्ट हो जाता है—

राखत अपने धर्म को, जहाँ कान रहि जाय। इत्यादि।

केशव के मरणाक्षेप का नाम तो दंडी से नहीं मिलता, परंतु उदाहरण

से ज्ञात होता है कि यह दंडी के मूर्छाक्षेप के स्थान पर लिखा गया है।

मिलाने के लिए एक उदाहरण—

सहिष्ये विरहं नाथ देह्यादृश्याञ्जनं मम।
यदक्तनेत्रां कन्दर्पः प्रहर्तुं मां न पश्यति॥—उपायाक्षेप।

केशव की नायिका भी ऐसी ही प्रार्थना कर रही है।

मूरति मेरो अदीठि कै ईठि चलौ, कै रहौ जो कछू मन मानै।
प्रेमिन छेमिन आदि दै केसव कोऊ न मोहिं कहूँ पहिचानै॥

ग्यारहवें प्रभाव में केशव ने निम्नलिखित तेरह अलंकारों का वर्णन किया है—क्रम, गणना, आशिष, प्रेम, श्लेष, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, ऊर्जस्वि, रसवत, अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, अपह्नुति।

दंडी तथा मम्मट दोनों ने 'क्रम अलंकार' ही का दूसरा नाम यथासंख्य माना है। परंतु केशव का 'क्रम' इन दोनों आचार्यों में से किसी से नहीं मिलता। इनका क्रम एकावली अलंकार हो गया है। जिसे केशव ने गणना अलंकार माना है उसमें कुछ भी अलंकारत्व नहीं है। आशिषालंकार दंडी का आशीरलंकार है परंतु केशव ने इनके क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया है। दंडी ने इस अलंकार का क्षेत्र केवल वहीं माना है जहाँ कोई व्यक्ति अभिलषित वस्तु की प्राप्ति की इच्छा प्रकट करे अथवा प्रार्थना करे। परंतु केशव ने सब प्रकार के आशीर्वादों में चमत्कार मानकर उन्हें इस अलंकार के अंतर्गत मान लिया है। प्रेमालंकार तथा ऊर्जालंकार क्रमशः दंडी के प्रेयस् तथा ऊर्जस्वि हैं। इन प्रेयादि अलंकारों के विषय में एक बात है। दंडी तथा 'साहित्यपदर्पणकार' महापात्र विश्वनाथ दोनों ने इनको माना है, परंतु उनके मानने में परस्पर सिद्धांत का भेद है। दंडी का सिद्धांत तो 'कविप्रिया' से प्रकट ही है। दर्पणकार का सिद्धांत भी संक्षेप में कह देना संभवतः आवश्यक है।

रसाभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालंकृतयस्तदा॥
रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमात्॥

रस और भाव, रसाभास और भावभास एवं भावप्रशम ये जब किसी के अंग हो जाते हैं तो क्रम से रसवत, प्रेयस्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकार होते हैं।

'श्लेष' अलंकार के संपूर्ण उपभेद दंडी के अनुसार हैं। यद्यपि केशव ने श्लेष के उपभेदों की परिभाषाएँ अलग-अलग नहीं दी हैं परंतु उनके उदाहरणों से लक्षणों का पता लगाया जा सकता है। केशव का 'सूक्ष्मालंकार' तथा उसके दो उपभेद दंडी के अनुसार हैं। 'इंगितलक्ष्य सूक्ष्म' के उदाहरण में दंडी ने जो श्लोक दिया है उसी का भावानुवाद केशव ने किया है।

> कदा नौ सङ्गमो भावीत्याकीर्णे वक्तुमक्षमम्।
> अवेक्ष्य कान्तमबला लीलापद्मं न्यमीलयत्॥ दंडी॥

> सखि सोहत गोपसभा महँ गोबिंद बैठे हुते दुति को धरिकै।
> जनु 'केसव' पूरन चंद लसै चित चारु चकोरन को हरिकै॥
> तिनको उलटो करि आनि दियो कहुँ नीरज नीर नयो भरिकै।
> कहु काहे तें नेकु निहारि मनोहर फेरि दियो कलिका करिकै॥

'लेश' अलंकार का लक्षण केशव ने स्पष्ट शब्दों में नहीं दिया है। दंडी का 'लेश' मम्मटादि प्राचीनों का 'व्याजोक्ति' है। 'निदर्शना' तथा 'रसवत' अलंकार भी दंडी के अनुसार हैं। केशव ने अपने 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार के उपभेदों के नाम तो दंडी के अनुसार रखे हैं, परंतु इनकी परिभाषाएँ तथा उदाहरण दंडी से नहीं मिलते। ऐसा प्रतीत होता है कि केशव इसे समझ नहीं सके। 'कविप्रिया' का 'व्यतिरेक' भी दंडी के अनुसार है। केशव की 'अपह्नुति' का लक्षण तो दंडी के अनुसार है, परंतु इस अलंकार के लिये जिस प्रकार की गोपन-क्रिया आवश्यक है वैसी उदाहरण में न आ सकी। केशव के उदाहरण 'मुकरी' है अपह्नुति नहीं।

बारहवें प्रभाव में केशव ने नौ अलंकार माने हैं। वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति, विशेषोक्ति, सहोक्ति, व्याजस्तुति, अमित,

पर्यायोक्ति, युक्त। इनमें वक्रोक्ति, अन्योक्ति, विशेषोक्ति, सहोक्ति, व्याजस्तुति इत्यादि दंडी तथा प्राचीन आचार्यों से मिलते हैं। केशव की व्यधिकरणोक्ति मम्मटादि की असंगति है। उदाहरण—

> आलिंगन अंग अंग पीड़ियत पद्मिनी के,
> सौतिन के अंग अंग पीरनि पिरात है॥

केशव की पर्यायोक्ति साहित्यदर्पणकार इत्यादि की पर्यायोक्ति नहीं है। यह एक प्रकार का प्रहर्षण है। केशव का युक्त अलंकार उन्हीं के स्वभावोक्ति से मिल जाता है। उनके इन दोनों अलंकारों के लक्षण देखिए—

> जाको जैसो रूप बल, कहिए ताही रूप।
> ताको कबिकुल युक्त कहि, बरनत बिबिध सरूप॥—युक्त।
> जाको जैसो रूप गुन, कहिए ताही साज।
> तासों जानि स्वभाव सब, कहि बरनत कबिराज॥—स्वभावोक्ति।

तेरहवें प्रभाव में आठ अलंकारों का वर्णन किया गया है। समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, रूपक, दीपक, प्रहेलिका, परिवृत्ति। इनमें से तीन अलंकारों का क्या आधार है इसका पता नहीं लगा। वे सुसिद्ध, प्रसिद्ध और विपरीत हैं। बचे हुए पाँच दंडी के अनुसार हैं। समाहित अलंकार का लक्षण केशव ने इस प्रकार दिया है—

> होत क्यों न हूँ, होय जहँ, दैवयोग ते काज।
> ताहि समाहित नाम कहि, बरनत कबि सिरताज॥

दंडी का लक्षण यह है—

> किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः।
> तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्॥

केशव के तथा दंडी के लक्षणों का भाव एक ही है। केशव ने समाहित का जो उदाहरण दिया है वह भी दंडी के उदाहरण का छाया-नुवाद ही है। 'साहित्यदर्पणकार' ने भी समाहित नाम का एक अलंकार माना है, परंतु वह एक भिन्न वस्तु है। विश्वनाथ के अनुसार 'समाहित'

वहाँ होता है जहाँ किसी भाव का प्रशम किसी अन्य भाव का अंग हो जाता है। परंतु जिसे दंडी तथा केशव समाहित मानते हैं उसे मम्मट तथा दर्पणकार समाधि मानते हैं। विश्वनाथ ने समाधि का लक्षण दिया है जो दंडी के समाहित से मिलता है—

समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात्।

विश्वनाथ ने समाधि के उदाहरण में जो श्लोक रखा है वही दंडी ने समाहित के उदाहरण में रखा है। ऐसी अवस्था में कुछ भी संदेह नहीं रह जाता कि दंडी का समाहित विश्वनाथ का समाधि ही है। वह उदाहरण यह है—

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम्॥

इसी भाव को केशव ने इस प्रकार कहा है—

छवि सों छबीली वृषभानु की कुँवरि आज,
रही हुती रूपमद मानमद छकि कै।
मारहू तें सुकुमार नंद के कुमार ताहि,
आए री मनावन सयान सब तकि कै।
हँसि हँसि, सौहैं करि करि पायँ परि परि,
'केसोराय' की सौं जब रहे जिय जकि कै।
ताही समै उठे घनघोर घोरि, दामिनि-सी,
लागी लौटि स्यामघन उर सों लपकि कै।

रूपक के दंडी ने कई भेद माने हैं परंतु केशव ने केवल ये तीन भेद माने हैं—अद्‌भुत-रूपक, विरुद्ध-रूपक, रूपक-रूपक। केशव का अद्‌भुत-रूपक अधिकारूढ़ रूपक हो गया है। दंडी ने भी विरुद्ध-रूपक माना है परंतु केशव का विरुद्ध-रूपक दंडी से नहीं मिलता। केशव का विरुद्ध-रूपक रूपक नहीं है, रूपकातिशयोक्ति है जिसमें केवल उपमानों का कथन किया जाता है। विरुद्ध रूपक का केशव का यह उदाहरण है—

सोने की एक लता तुलसी-बन क्यों बरनौ सु न बुद्धि सके छ्वै।
'केसवदास' मनोज मनोहर ताहि फले फल श्रीफल से व्वै॥
फूलि सरोज रह्यो तिन ऊपर रूप निरूपत चित्त चलै च्वै।
ता पर एक सुवा सुभ तापर खेलत बालक खंजन के द्वै॥

रूपक-रूपक नाम का एक भेद दंडी ने भी माना है। केशव ने दंडी के उदाहरण की छाया अपने उदाहरण में लाने का यत्न किया है। परंतु उन्होंने दंडी का तात्पर्य नहीं समझा अतः उनका रूपक एक साधारण रूपक रह गया है। उपभेद की कल्पना किसी विशेष चमत्कार को लक्ष्य में रखकर की जाती है। दंडी के अनुसार रूपक-रूपक वहाँ होता है जहाँ रूपक के द्वारा किसी प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप करने के बाद फिर एक और अप्रस्तुत का आरोप पहले अप्रस्तुत पर किया जावे अर्थात् पहले के अप्रस्तुत को प्रस्तुत मान फिर से अप्रस्तुत-विधान किया जावे। दंडी के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जावेगा—

मुखपङ्कज रङ्गेऽस्मिन् भ्रूलतानर्त्तकी तव।
लीलानृत्यं करोतीति रम्यं रूपकरूपकम्॥

यहाँ मुख पर कमल का आरोप किया गया है और उस पर फिर रंगशाला का। इसी प्रकार 'भ्रूलतानर्त्तकी' इत्यादि में भी। केशव ने समझा कि इस उपभेद का सार यही 'लीला नृत्य' है अतः इसी को अपने उदाहरण में ढालने का प्रयत्न किया, परंतु इस उपभेद का मुख्य आधार उनके हाथ से निकल गया। केशव का उदाहरण यह है—

काछे सितासित काछनी 'केसव' पातुरि ज्यों पुतरी नि बिचारो।
कोटि कटाच्छ चलै गति भेद नचावत नायक नेह निनारो॥
बाजतु है मृदुहास मृदंग, सुदीपति दीपन को उजियारो।
देखत हौ हरि, देखि तुम्हैं यहि होत है आँखिन ही में अखारो॥

दीपक अलंकार के दंडी ने अनेक भेदोपभेद माने हैं परंतु केशव ने केवल दो भेद किये हैं—मणिदीपक तथा मालादीपक। परंतु दीपक के अनेक भेदों का होना उन्होंने भी माना है—

दीपक रूप अनेक है, मैं बरनौं द्वै रूप।
मणिमाला तिन सों कहै, केसव सब कवि भूप॥

दीपकालंकार की साधारण परिभाषा केशव ने यों दी है—

वाच्य क्रिया गुन द्रव्य को, बरनहु करि इकठौर।
दीपक दीपति कहत हैं, केसव कवि-सिरमौर॥

यह लक्षण दंडी के लक्षण से मिलता है—

जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्त्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपकं यथा॥—दंडी

केशव के मणिदीपक का द्वितीय उदाहरण दंडी के जाति दीपक के उदाहरण से मिलता है—

पवनो दक्षिणः पर्णं जीर्णं हरति वीरुधाम्।
स एवावनताङ्गीनां मानभङ्गाय कल्पते॥-दंडी

इसी भाव को विस्तार से केशव ने यों लिखा है—

दच्छिन पवन दच्छि पच्छिनी रमन लगि,
लोचन करत लोनी लवली लता को फरु।
'केसवदास' केसर कुसुम कोस-रसकन,
तनु तनु तिनहू को सहत सकल भरु॥
क्योंहूँ कहूँ होत बढ़ि साहस बिलास बस,
चंपक चमेली मिलि मालती सुवास हरु।
सीतल सुगंध मंद गति नंद नंद की सौं,
पावत कहाँ तें तेज तोरिबे को मानतरु॥

केशव का मालादीपक दंडी के उसी नाम के भेद से मिलता है। प्रहेलिकालंकार दंडी ने भी माना है। केशव का परिवृत्ति अलंकार दंडी के इसी नाम के अलंकार से नहीं मिलता। केशव के इस अलंकार के उदाहरणों को देखने से यह पता नहीं चलता कि वास्तव में उनका लक्षण क्या है।

चौदहवें प्रभाव में केशव ने उपमालंकार का वर्णन किया है। केशव ने कुल मिलाकर बाईस प्रकार की उपमाएँ मानी हैं और दंडी ने बत्तीस प्रकार की। केशव की पंद्रह उपमाएँ दंडी के नामों तथा लक्षणों से मिल जाती हैं। वे निम्नलिखित हैं—

संशयोपमा, अद्भुतोपमा, श्लेषोपमा, निर्णयोपमा, विरोधोपमा, हेतूपमा, विक्रियोपमा, मोहोपमा, अतिशयोपमा, धर्मोपमा, मालोपमा, अभूतोपमा, नियमोपमा, उत्प्रेक्षितोपमा, असंभावितोपमा। केशव की सात उपमाओं के नाम दंडी से नहीं मिलते। वे ये हैं—भूषणोपमा, दूषणोपमा, विपरीतोपमा, परस्परोपमा, संकीर्णोपमा, लाक्षणिकोपमा, गुणाधिकोपमा।

इनमें से संकीर्णोपमा तथा विपरीतोपमा दंडी के किसी भेद से नहीं मिलतीं। इन दोनों में उपमा के लिए आवश्यक साम्य की प्रतिष्ठा हो ही नहीं पाई, न जाने क्यों केशव ने ये भेद मान लिए। शेष पाँच उपमाएँ यद्यपि दंडी के भेदों से नामसाम्य नहीं रखती परंतु उनके क्षेत्र दंडी के भेदों के क्षेत्रों से मिल जाते हैं। नीचे केशव के भेदों के तथा उनसे मिलता हुआ कार्य करनेवाले दंडी के भेदों के नाम दिए जाते हैं—

केशव		दंडी
परस्परोपमा	=	अन्योन्योपमा
दूषणोपमा	=	निन्दोपमा
भूषणोपमा	=	प्रशंसोपमा
गुणाधिकोपमा	=	प्रतिषेधोपमा
लाक्षणिकोपमा	=	चटूपमा

इस प्रकार केशव की बाईस उपमाओं में बीस दंडी के अनुसार हैं। दंडी ने भ्रांतिमान्, संदेह, व्यतिरेक, निश्चय, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों को उपमा-भेद ही मान लिया है। इनमें से कौन-कौन अलंकार दंडी की उपमा के कौन से भेद हैं यह नीचे दिया जाता है—

भ्रांतिमान्	=	मोहोपमा
अतिशयोक्ति	=	अद्भुतोपमा
संदेह	=	संशयोपमा
निश्चय	=	निश्चयोपमा
व्यतिरेक	=	प्रतिषेधोपमा
विशेषोक्ति	=	चटूपमा

दंडी का अनुकरण केशव ने भी किया है अतः उनके उपमा के भेदों के अंतर्गत उपर्युक्त साम्य पर निर्भर रहनेवाले अलंकार आ गए हैं।

बहुत स्थलों पर केशव ने दंडी का भाव नहीं समझा। कहीं-कहीं अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत करने में उसके आधार की रक्षा नहीं हो पाई। परंतु ये बातें केशव के उपमालंकार में ही हो ऐसा नहीं है, उन्होंने प्रायः स्थलों पर ऐसा ही किया है।

पंद्रहवें प्रभाव में यमक का वर्णन किया गया है। दंडी ने इसका बहुत विस्तार किया है। केशव ने दंडी का अनुकरण किया है परंतु उतने भेदों के उदाहरण भाषा में बनाना कठिन था अतः थोड़े ही भेद करके केशव ने काम चला लिया है।

सोलहवें प्रभाव में चित्रालंकार का वर्णन है। केशव के चौथे प्रभाव से लेकर आठवें प्रभाव का आधार 'काव्यकल्पलतावृत्ति' तथा 'अलंकार शेखर' नामक ग्रंथ हैं। तीसरे तथा नौवें से अंत तक के प्रभाव दंडी से सहायता लेकर लिखे गए हैं। दोषों तथा अलंकारों के प्रकरण केशव ने काव्यादर्श के आधार पर लिखे हैं।

---

१३. आचार्यत्व तथा पांडित्य

किसी साहित्य में जब कुछ काल तक काव्य रचना हो चुकती है तो लक्षण-ग्रंथों के निर्माण का युग आता है। लक्षण-ग्रंथ अपनी स्वतंत्र सत्ता

नहीं रखते, वे साहित्य के ऊपर निर्भर रहते हैं। हिंदी का संस्कृत-साहित्य से इतना निकट का संबंध रहा कि उसको स्वतंत्र-रूप से विकसित होने का अवसर ही न मिला। हिंदी के प्रायः कविगण प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत-साहित्य से परिचित रहते थे, अतः उनकी रचनाओं पर संस्कृत-साहित्य की विचारधारा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। अतः हिंदी में लक्षण-ग्रंथों की रचना के लिए यह आवश्यक न था कि पहले काव्य-रचना अधिक मात्रा में हो ले। केशवदास के पहले भी रीति-ग्रंथों की रचना की ओर लोग झुकने लगे थे; उनके समय तक तो हमारी भाषा में कुछ बहुत ग्रंथों की रचना न हो पाई थी।

रीति के अनुसार ग्रंथ बनानेवाले कवियों ने हिंदी साहित्य का अध्ययन कर तथा उसकी प्रकृति को परखकर ग्रंथ बनाना प्रारंभ नहीं किया। वे संस्कृत के किसी आचार्य का ग्रंथ अपने सामने रख लेते थे और उसका अनुवाद अथवा भावानुवाद प्रस्तुत कर देते थे। हिंदी में जितने रीति के अनुसार रचना करनेवाले हुए सब एक प्रकार से अनुवादक थे। उनके ग्रंथ उनकी स्वतंत्र उद्भावना अथवा सूक्ष्मबुद्धि के फल-स्वरूप न होते थे। केशव के आचार्यत्व पर विचार करते समय हमारा ध्यान उनके दो प्रसिद्ध ग्रंथों की ओर जाता है। ये 'कविप्रिया' तथा 'रसिकप्रिया' हैं। पहला ग्रंथ अलंकारों पर है, दूसरा रसों पर।

कविप्रिया में केशव ने काव्यभेद, कविभेद, कवि-संप्रदाय, काव्य के वर्ण्य विषय, अलंकार, काव्यदोष इत्यादि का विस्तृत वर्णन किया है। केशव के इस ग्रंथ का आधार 'काव्यादर्श', 'कविकल्पलतावृत्ति', 'अलंकार-शेखर' इत्यादि ग्रंथ हैं। संस्कृत साहित्य में इन विषयों पर दो प्रकार के ग्रंथ प्रस्तुत हुए। एक प्रकार के ग्रंथों का लक्ष्य आचार्यत्व की दृष्टि से रसों, अलंकारों इत्यादि का विवेचन था, दूसरे प्रकार के ग्रंथों में कवि की शिक्षा के लिए कुछ लिखा जाता था। आचार्यत्व की दृष्टि से लिखी गई पुस्तकों में काव्यप्रकाश, काव्यादर्श, रसगंगाधर, साहित्यदर्पण इत्यादि के नाम लिए जा सकते हैं। इन पुस्तकों में ग्रंथकर्ताओं का उद्देश्य

वैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा विषय का पांडित्यपूर्ण ढंग से प्रतिपादन करना रहता था। दूसरी प्रकार की पुस्तकों का लक्ष्य साधारण कवियों को काव्य की सांप्रदायिक बातों से तथा लौकिक ज्ञान से परिचित कराना रहता था। सब कवियों के लिए देशाटन इत्यादि संभव नहीं था अतः उनके लाभ के लिए कुछ सामग्री प्रस्तुत कर दी जाती थी। परंतु इन कवि शिक्षा पर लिखी गई पुस्तकों के आधार पर जो रचनाएँ होती होंगी उनमें प्रत्यक्ष अनुभव से लिखी गई कविता में प्राप्त होनेवाली सजीवता न रहती होगी। फिर भी ऐसी पुस्तकों से साधारण कवियों का लाभ ही हुआ होगा। इन कवि शिक्षा की पुस्तकों में यहाँ तक बता दिया गया है कि किन-किन प्रस्तुतों के कौन-कौन से उपमान हो सकते हैं। ग्रंथ-कर्ताओं का तो लक्ष्य यही रहा होगा कि कुछ बातों का संकेत स्वतंत्र उद्भावना तथा कल्पना को जागरित करेगा। परंतु फल इसका एकदम विपरीत हुआ। संस्कृत के पिछले काल में अनेक ऐसे कवि मिलेंगे जो पुस्तकों में गिनाए हुए उपमानों से आगे न बढ़ सके। कवि-शिक्षा पर लिखी गई इस प्रकार की पुस्तकों में 'काव्यकल्पलतावृत्ति', 'काव्यमीमांसा' इत्यादि के नाम लिए जा सकते हैं। केशवदासजी ने 'कविप्रिया' के चार अध्याय इसी विषय पर लिखे हैं। इन अध्यायों में कविसंप्रदाय में प्रच-लित कुछ बातों का संकलन कर दिया गया है। अनेक कवियों ने इस पुस्तक को ही पथ-प्रदर्शक मानकर काव्योपासना प्रारंभ की। इसका यह फल हुआ कि अनेक कवियों की रचनाओं में कुछ इने-गिने उपमानों की करामात ही दिखाई पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है मानों इन्होंने अपनी आँखें बंद कर ली थीं और पुस्तकों के ज्ञान के भरोसे काव्य-रचना करने बैठे थे। परंतु यह बात केवल उन्हीं लोगों के विषय में सत्य है जो संस्कृत-साहित्य से अपरिचित थे। जो संस्कृत के पंडित थे वे कविप्रिया इत्यादि पुस्तक को क्यों आधार बनाने लगे।

'कविप्रिया' में नौवें अध्याय से लेकर अंत तक अलंकारों का वर्णन किया गया है। इनका नाम विशेषालंकार रखा गया है। बात यह थी

कि उन्होंने कविशिक्षा विषयक बातों को भी अलंकार ही समझ लिया था, उनका नामकरण सामान्यालंकार किया था। केशव ने सब मिलाकर तैंतिस अलंकार माने हैं; उनके वर्णन दंडी के 'काव्यादर्श' के अनुसार हैं। ये वर्णन कैसे हैं यह कविप्रियावाले प्रकरण में आ चुका है। परंतु प्रसंगानुसार उसके विषय में कुछ यहाँ भी कह देना आवश्यक होगा।

सबसे पहली कठिनाई हिंदी में ऐसी पुस्तकें लिखनेवालों को भाषा विषयक पड़ती थी। संस्कृत में जितनी प्रौढ़ता है उतनी बहुत कम भाषाओं में है। ब्रजभाषा में प्रवाह, माधुर्य सब कुछ है परंतु गंभीर विषयों के विवेचन के लिए जिस स्पष्टता की आवश्यकता है वह ब्रज में नहीं है। दूसरे ब्रजभाषा का विकास केवल पद्य में हुआ था। संस्कृत के आचार्यों के सामने गद्य का मार्ग खुला हुआ था। न्याय इत्यादि के विकास के कारण संस्कृत भाषा में एक प्रकार की तार्किकता आ गई थी। वे पद्य में दिए हुए लक्षणों को विस्तारपूर्वक गद्य में समझा सकते थे। ब्रजभाषा के रीति-ग्रंथों के लेखकों को पद्य का ही मार्ग ग्रहण करना पड़ता था। केशव के सामने भी यही कठिनाई थी। उसका कुफल यह हुआ कि लक्षणों में शास्त्रीय ढंग की प्रौढ़ता तथा स्पष्टता न आने पाई। संस्कृत में जो उच्चकोटि के लक्षण-ग्रंथ लिखे गए हैं उनकी भाषा बहुत गंभीर, पारिभाषिक तथा सांकेतिक हो गई है। केशवदास जी संस्कृत के पंडित तो अवश्य थे परंतु जैसा सूक्ष्म तथा गंभीर पांडित्य इन सब ग्रंथों के लिए अपेक्षित था वैसा उनमें न था। अतः उनके लक्षण शास्त्रीय ढंग से किसी काम के नहीं। नीचे उनकी सहोक्ति का एक उदाहरण दिया जाता है—

> हानि वृद्धि शुभ अशुभ कछु, कहिए गूढ़ प्रकास।
> होय सहोक्ति सु साथ ही, बरनत केसवदास॥

जो लोग पहले से सहोक्ति अलंकार नहीं समझे हुए हैं वे इस लक्षण से कुछ लाभ नहीं उठा सकते। उदाहरणों को देखने से लक्षणों

का कुछ-कुछ अनुमान किया जा सकता है, परंतु अनेक स्थलों पर लक्षण तथा उदाहरणों का समन्वय ही नहीं है। ऐसे स्थलों पर अलंकारों का पता लगाना कठिन हो जाता है। यह तो अलंकारों के साधारण लक्षणों की बात हुई; अनेक अलंकारों के कई उपभेद भी किए गए हैं। इन उपभेदों के लक्षण तो प्रायः लिखे ही नहीं गए। कुछ अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरणों को देखने से यह पताही नहीं लगता कि वास्तव में केशव इस अलंकार को किस अवस्था में मानते हैं। उदाहरण के लिए उनका 'परिवृत्तालंकार' लिया जा सकता है। पहला, उदाहरण देखने से यह ज्ञात होता है कि यह 'विषादन' से मिलता-जुलता कुछ होगा, परंतु दूसरे उदाहरण में यह बात नहीं रह जाती। केशव ने कुछ अलंकारों में ऐसी अस्पष्टता कर दी है कि उन्हीं के दो अलंकार आपस में मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए उनके 'युक्त' तथा 'स्वाभावोक्ति में कुछ भेद नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार विशेषालंकार तथा विभावना-लंकार भी प्रायः एक ही-से हो गए हैं। दंडी के अभाव-साधन में कारक हेतु को अभाव हेतु मानकर जो उदाहरण दिया गया है वह भी विभावना का हो गया है। इसका कारण यही था कि दंडी के 'काव्यादर्श' को इन्होंने अच्छे प्रकार समझा नहीं था। दंडी ने विरोधाभास अलंकार को विरोध से भिन्न नहीं माना है। केशवदास ने इन दोनों को अलग-अलग माना है। परंतु उनके उदाहरणों में दोनों अलंकार मिल गए हैं। विरोध का जो पहला उदाहरण उन्होंने दिया है वह विरोधाभास का हो गया है। दूसरा उदाहरण विभावनालंकार का हो गया है।

कुछ अलंकारों के उपभेद केवल दंडी के उपभेदों को देखकर मान लिए गए हैं परंतु उनका निर्वाह उदाहरणों में न हो पाया। रूपकालंकार के तीन भेदों में एक रूपक-रूपक भी है। परंतु उसका जो उदाहरण दिया गया है वह केवल रूपक का है। उपभेदों की कल्पना किसी विशेष चमत्कार को दृष्टि में रखकर होती है, परंतु केशव के प्रायः उपभेदों में ऐसा कोई चमत्कार नहीं रहता। अलंकारों का वास्तविक अलंकारत्व

किस प्रकार की उक्ति में है यह न समझने से स्थान-स्थान पर अनर्थ हो गया है। एक उदाहरण लीजिए। अपह्नुति अलंकार में एक प्रकार का गोपन रहता है। यह वास्तविक नहीं रहता, काल्पनिक होता है। चमत्कार की प्रतिष्ठा के लिए प्रस्तुत को छिपाकर अप्रस्तुत सामने लाया जाता है। परंतु केशव ने इसका तात्पर्य नहीं समझा; इसका फल यह हुआ कि उनका अपह्नुति का उदाहरण 'मुकरी' हो गया है। अलंकारों के ऊपरी ढाँचे की तो रक्षा हो गई है, परंतु उनकी आत्मा नष्ट हो गई। अलंकारों के प्रायः कथन वास्तविक नहीं होते। वे व्यंग्य में सहायता देने ही के लिए होते हैं। उनकी सहायता से सौंदर्यादि की व्यंजना की जाती है। यदि आलंकारिक कथन वाच्यार्थप्रधान हो तो उनमें वह सांकेतिकता न रह जावे जिसे लक्ष्य में रखकर अप्रस्तुत-विधान किया जाता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जावेगी। आक्षेपालंकार में एक प्रकार का प्रतिषेध कथन किया जाता है। इसकी व्याख्या करते समय जीवानंद भट्टाचार्य ने कहा है कि वास्तविक प्रतिषेध में यह अलंकार नहीं होता, क्योंकि उसमें चमत्कार का अभाव रहता है। परंतु केशव ने कहीं-कहीं वास्तविक निषेध को ही आक्षेपालंकार के लिए प्रयोजनीय समझ लिया। यदि वास्तविक निषेध में अलंकार मान लिया जावे तो जीवन के अनेक अवसरों पर जब किसी को किसी काम के लिए मना किया जाता है, यही अलंकार हो जावे। परंतु ऐसा नहीं है। दंडी ने धर्माक्षेप नाम का एक भेद आक्षेप अलंकार का माना है। दंडी का यहाँ धर्म शब्द से अलंकार-शास्त्र में प्रयुक्त होनेवाले कोमलतादि गुणों से तात्पर्य है। केशव ने धर्म शब्द का तात्पर्य पातिव्रतादि धर्म समझ लिया, जैसा उनके विवेचन तथा उदाहरण से प्रतीत होता है।

इन सब बातों को देखने से इस निर्णय पर पहुँचना कठिन नहीं कि केशव का अलंकार-शास्त्र का ज्ञान ठोस नहीं था। आचार्य ऐसे उच्चपद के योग्य जैसी योग्यता तथा अभिज्ञता अपेक्षित है वैसी उनमें नहीं। दंडी इत्यादि से अनुवाद करके वे भाषा में भी रीतिशास्त्रों की प्रणाली चलाना

चाहते थे और इसमें वे सफल भी हुए। यदि वे दंडी का अनुवाद सफलतापूर्वक कर भी लेते तो भी वे एक श्रेष्ठ अनुवादक ही कहे जाते; आचार्य-पद के अधिकारी न हो पाते। परंतु अनुवाद के आदर्श का पालन भी वे न कर सके। केशव के पश्चात् कुछ दिनों तक तो ऐसी पुस्तकों का सिलसिला न चला, परंतु फिर तो ऐसी पुस्तकों का ताँता-सा बँध गया। हिंदी में रीति के अनुसार बँधी हुई शैली का प्रचार होने से प्रतिभा के स्वतंत्र विकास का क्षेत्र अवरुद्ध हो गया।

संस्कृत-साहित्य में अलंकारों की संख्या सदा के लिए निश्चित नहीं कर दी गई है। क्रमशः अलंकारों की संख्या बढ़ती ही गई। भावाभिव्यंजन की नई-नई शैलियों की उद्भावना कवि लोग करते गए और आचार्यगण इन शैलियों का नामकरण करते रहे। पर आगे चलकर संस्कृत-साहित्य के पतन के दिन आए, काव्यधारा रूढ़ि के बँधे हुए तालाबों में अवरुद्ध हो गई। हिंदी पर भी संस्कृत के इस पिछले काल के साहित्य का प्रभाव पड़ा। इसका फल यह हुआ कि कवियों की कृतियों में एक प्रकार की संकीर्णता आ गई। हिंदी के मुसलमान कवि संस्कृत के इस प्रभाव से बचे रहे, अतः उनके काव्यों में हम कम-से-कम रूढ़ि का इस प्रकार का पालन तो नहीं पाते हैं। रीति की इस परंपरा का प्रभाव अच्छा नहीं हुआ। प्रतिभा के स्वतंत्र रूप से विकसित होने में बाधा पड़ी। आलंकारिक परिपाटी के अनुसार भी हिंदी में नवीन-नवीन चमत्कृत शैलियों की उद्भावना न हो सकी, क्योंकि हिंदीवालों ने समझ लिया था कि अलंकारों की संख्या संस्कृत के आचार्यों ने सदा के लिए निश्चित कर दी है।

इस विषय की केशवदास की दूसरी पुस्तक 'रसिकप्रिया' है। संस्कृत साहित्य में श्रृंगार का रसराजत्व एक प्रसिद्ध बात है। दूसरे रसों के स्थायी भी श्रृंगार के अंतर्गत संचारी होकर आ सकते हैं। संयोग तथा वियोग दो पक्ष होने से इस रस का विस्तार भी सुख दुःख दोनों अनुभूतियों तक है। ऐसे ही कुछ कारणों से इस रस का महत्व स्वीकार किया गया है। केशवदासजी ने भी श्रृंगार का रसराजत्व सिद्ध करना चाहा।

उन्होंने रौद्र, वीभत्स इत्यादि रसों को भी श्रृंगार के अंतर्गत ठूँसना चाहा। परंतु न यह संभव था न केशवदासजी ऐसा कर ही सके। श्रृंगार रस के विस्तृत क्षेत्र में भिन्न-भिन्न आलंबनों का आश्रय ग्रहण कर दूसरे रसों के स्थायी भी संचारी रूप में आ सकते हैं, परंतु केशव ने तो रतिक्रीड़ा में ही रौद्र रस की कल्पना करने का उद्योग किया। ऐसी अवस्था में यह कहा जा सकता है कि 'रसिकप्रिया' केवल श्रृंगार रस की पुस्तक है।

श्रृंगार के उपादानों का—विभाव, अनुभाव, संचारियों का सूक्ष्म, मार्मिक तथा शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ है। रस का काव्य से क्या संबंध है, रस की निष्पत्ति विभावादिकों से कैसे होती है, भावों और रसों का क्या संबंध है, रसाभास तथा भावाभास क्या हैं इत्यादि विषयों को केशव-दासजी ने छोड़ ही दिया है। संयोग श्रृंगार, विप्रलंभ, नायिका, दर्शन, सात्त्विक व्यभिचारी, नायिक-भेद, मान, सखी-कर्म इत्यादि का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। श्रृंगार के प्रच्छन्न तथा प्रकाश दो भेद अनावश्यक ही किए गये हैं।

ये दोनों पुस्तकें, कविप्रिया तथा रसिकप्रिया, आचार्यत्व की दृष्टि से केशवदास को कोई ऊँचा स्थान नहीं देतीं। काव्य की दृष्टि से इनका महत्त्व अवश्य है। उदाहरण में आए हुए पद्यों में प्रायः सुंदर कल्पना से काम लिया गया है। सूक्ष्म विवेचन इत्यादि का अभाव होते हुए भी प्रचार की दृष्टि से इनका बहुत महत्त्व रहा। जो लोग संस्कृत नहीं जानते थे उन्हें इन पुस्तकों से कुछ सहारा मिला।

पांडित्य

कवि के संक्षिप्त परिचय के प्रसंग में कहा जा चुका है कि इनके यह पांडित्य की परंपरा बहुत दिनों से चली आती थी। इनके वंश में अनेक प्रसिद्ध विद्वान् हो चुके थे। पुराण-वृत्ति इनके घराने में पहले से चली आती थी। केशवदासजी स्वयं भी उच्च कोटि के संस्कृत-साहित्य के पंडित

थे। इनकी रचनाओं से यह प्रमाणित होता है। रामचंद्रिका तथा संस्कृत ग्रन्थ प्रकरण में यह दिखाया जा चुका है कि इन्होंने 'प्रसन्न-राघव' तथा 'हनुमन्नाटक' इत्यादि ग्रन्थों से बहुत सामग्री ली थी। इन दोनों नाटकों के अतिरिक्त 'कादंबरी' इत्यादि का भी कुछ-कुछ प्रभाव इनकी रचनाओं पर पड़ा है। 'विधि के समान है विमानीकृत राजहंस' इत्यादि स्थल तो प्रत्यक्ष ही 'कादंबरी' के हैं। विज्ञानगीता की रचना प्रबोध-चंद्रोदय के अनुसार हुई। संस्कृत के और ग्रंथों का भी प्रभाव 'रामचंद्रिका' पर स्पष्ट लक्षित होता है। जब ग्रंथकर्ता की अपनी रचनाओं का प्रभाव ऐसा होता है कि दूसरे ग्रंथों की सूक्तियाँ उसमें काव्योचित सामंजस्य के साथ बैठाई जा सकें तो उधार लेना उतना बुरा नहीं लगता। सभी भाषाओं के कवियों ने अपने से प्राचीन कवियों की रचनाओं को अपनाकर उनका गौरव बढ़ाया है तथा अपनी कविता की श्रीवृद्धि की है। परंतु उधार लेने में भी एक कला अपेक्षित है। यदि उधार लेनेवाले की अपनी रचनाएँ उच्चकोटि की न हों तो बाहर की सुंदर उक्तियाँ भी अपनी शोभा से हीन हो जाती हैं तथा नवीन ग्रंथ की प्रभविष्णुता नष्ट करती हैं। सुन्दर नगीना यदि 'बारहबानी' सोने की अँगूठी में जड़ा जायगा तो वे दोनों पारस्परिक कांति की वृद्धि में सहायक होंगे। पीतल या काँसे की अँगूठी में हीरे को जड़कर उसका भी अपमान करना है तथा अपनी भी कला-विषयक अनभिज्ञता प्रकट करना है। कथरी में बेल-बूटों की शोभा कैसी होगी! यदि सत्य कहा जाय तो वास्तव में केशव के ग्रंथों में कुछ स्थलों पर ऐसा ही हुआ है। बीच की टूटी लड़ियों को वे सुंदरता से मिला नहीं पाये हैं। उधार की चीजें अलग उखड़ी हुई दिखाई पड़ती हैं। यदि यह त्रुटि नहीं है तो संवादों में।

अब, इनके रीति ग्रंथों पर विचार कर लिया जाय। 'कविप्रिया' का आधार काव्यादर्श, काव्यकल्पलतावृत्ति इत्यादि ग्रंथ हैं। दंडी के माने हुए अलंकारों के अतिरिक्त भी इन्होंने कुछ अलंकारों को 'कविप्रिया' में माना है तथा और बहुत से अलंकारों के ढाँचे पर 'रामचंद्रिका'

में रचनाएँ की हैं। इन सबसे पता चलता है कि दंडी के 'काव्यादर्श' के अतिरिक्त 'साहित्यदर्पण' इत्यादि ग्रंथ इन्होंने पढ़े थे। 'रसिक प्रिया' के अंत में वृत्तियों इत्यादि के वर्णन से भी ऐसा ही अनुमान होता है। 'रसिक-प्रिया' के रस-विवेचन के लिए भी कहीं से अध्ययन किया होगा। रस-विवेचन त्रुटिपूर्ण होने पर भी शास्त्रीय पद्धति पर है। इन सब बातों से इस निष्कर्ष पर पहुँचना सरल है कि संस्कृत के रीति-ग्रंथों का अध्ययन भी इनका विस्तृत था। परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि इनके पांडित्य में गंभीरता थी। अलंकारों इत्यादि का विवेचन इन्होंने जिस अस्पष्टता से किया है उससे इनका इस विषय का गंभीर पांडित्य प्रकट नहीं होता। अलंकार का रसों से क्या संबंध है, इनका महत्त्व केवल वाच्यार्थ के लिए है अथवा ये भावव्यंजना में भी सहायता देते हैं इत्यादि बातों की ओर इनका ध्यान नहीं गया। इनका छंदों का ज्ञान भी बहुत विस्तृत था। न जाने कितने प्रकार के छंदों का प्रदर्शन रामचंद्रिका' में किया गया है। परंतु छंदों का चुनाव विषय के अनुरूप सदा नहीं हुआ है। छोटे-छोटे छंदों के प्रयोग से भाषा में अस्पष्टता तथा क्लिष्टता आ जाती है। नीचे की पंक्तियों का भाव साधारणतः समझ में आना कठिन ही समझिए—

(श्री छंद)—सो, धी। री, धी।

किसी एक छंद के प्रवाह के साथ कुछ दूर चलने से एक प्रकार की संगीतात्मक ध्वनि उत्पन्न होती है जो श्रवणेंद्रिय पर प्रभाव डालती हुई रसोद्रेक में सहायता देती है। जल्दी-जल्दी छंद-परिवर्तन से कानों को एक प्रकार का झटका-सा लगता है। यही बात हम 'रामचंद्रिका' में पाते हैं। एक-आध स्थल पर अतुकांत कविता भी की है।

नृत्य, गीत इत्यादि के सिद्धांतों का शास्त्रीय ढंग से इन्होंने अध्ययन अवश्य किया होगा। 'रामचंद्रिका' के उत्तरार्द्ध में नृत्य के अनेक भेदों का जो वर्णन इन्होंने किया है उससे इस विषय का इनका ज्ञान सूचित होता है। परंतु इतने लंबे वर्णन काव्य की दृष्टि से कुछ महत्त्व नहीं

रखते। नामावली प्रस्तुत करना काव्य का लक्ष्य नहीं। नृत्य इत्यादि से संबद्ध आलंकारिक योजना भी उन्होंने की है। नीचे की उत्प्रेक्षा इस विषय का ज्ञान रखने के कारण कैसी अनूठी हुई। उत्प्रेक्षा सीताजी की दासी की लट पर है—

> रूप अनूप रुचिर रसभीनि, पातुर नैनन की पुतरीनि।
> नेह नचावत हित रतिनाथ, मरकत लकुट लिए जनु हाथ॥

दर्शनशास्त्र का भी इन्होंने अवश्य अध्ययन किया होगा। ईश्वर-जीव इत्यादि के संबंध का जो विवेचन इन्होंने किया है वह पांडित्य-पूर्ण है। यों ही सुनकर प्राप्त किए हुए ज्ञान से इतनी प्रौढ़ता नहीं आ सकती। 'विज्ञान-गीता' तथा 'रामचंद्रिका' के उत्तरार्द्ध में इन विषयों की पर्याप्त चर्चा हुई है। राम को संसार से वैराग्य होने का सारा प्रसंग ही 'योगवासिष्ठ' के अनुसार है। 'गीता' की भी छाप इनके ग्रंथों पर है।

दंडनीति इत्यादि का भी कुछ ज्ञान इनको अवश्य था। इनके संवादों इत्यादि में जो राजनीतिक दाँव-पेंच खेले गये हैं वे तो संभवतः इन्होंने उस समय की रियासतों की चालों को देखकर सीखे होंगे। पर रावण के मंत्री इस विषय का जो विवेचन 'रामचंद्रिका' में करते हैं उससे इनका दंडनीति-विषयक ज्ञान प्रकट होता है। धर्मशास्त्र, योगशास्त्र इत्यादि का भी कुछ परिचय इनको अवश्य था। भिन्न-भिन्न प्रकारों के दानों का वर्णन शास्त्रानुसार ही हुआ है। प्राणायाम इत्यादि का प्रसंग इन्होंने 'विज्ञान-गीता' तथा 'रामचंद्रिका' दोनों में उठाया है। इस विषय का कोई-न-कोई ग्रंथ इन्होंने देखा होगा। यह भी संभव है कि सुनने-सुनाने से इन विषयों का साधारण ज्ञान इनको हो गया हो। पंडितों के घर में इन सब बातों को साधारणतः सभी लोग जानते हैं। ज्योतिष तथा वैद्यक संबंधी कुछ रचनाएँ भी 'रामचंद्रिका' में आई हैं। पर एक-आध स्थल पर ऐसी उक्तियों को देखकर यह कैसे कहा जा सकता है कि वे इन सब विषयों के प्रकांड पंडित थे।

ज्योतिष—श्रवन मकर कुंडल लसत, मुख सुखमा एकत्र।
सखि समीप सोहत मनों, श्रवन मकर नक्षत्र॥

परंतु इतना ज्ञान तो इन्हें शीघ्र बोध इत्यादि पढ़ने ही से हो गया होगा। इसके लिए ज्योतिषाचार्य होने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

गद सत्रु त्रिदोष ज्यौं दूरि करैं, त्रिसिरा सिर त्यौं रघुनंदन के सर।

इससे बस इतना पता चलता है कि ये त्रिदोष का नाम जानते थे। पर इतना बहुत लोग जानते हैं। ऐसी ही उक्तियों से लाला भगवान-दीनजी ने इन्हें वैद्यक का पंडित मान लिया था।

केसव हैहयराय को मास हलाहल कौन खाय लियो रे।
ता लगि मेद महीपन को घृत घोर दियो न सिरानो हियो रे॥
मेरो कह्यो करि मित्र कुठार जो चाहत है बहु काल जियो रे।
तौ लौं नहीं सुख जौ लगि तू रघुवीर को ओठ सुधा न पियो रे॥

इस पर लालाजी ने लिखा है—"इससे प्रकट है कि केशव वैद्यक भी अच्छी तरह जानते थे। हमारा अनुभव है कि संखिया विष का प्रभाव चूने के पानी से शीघ्र नष्ट होता है।" ऐसी साधारण बातें तो सभी जानते हैं। बात यह थी कि उस समय वैद्यों का कोई स्वतंत्र व्यवसाय नहीं था। संस्कृत के पंडित ही वैद्यक का एक आध ग्रंथ पढ़ कर दवा बाँटने लगते थे। आजकल भी गाँव के पंडित पुरोहित, वैद्य, ज्योतिषी इत्यादि सबका काम कर लेते हैं। जब किसी के पेट में पीड़ा होती है तो वह पंडितजी के ही पास चूरन लेने जाता है और मुहूर्त पूछनेवाले भी पंडितजी के ही पास पहुँचते हैं। केशव के यहाँ भी यही परिपाटी रही होगी। इसीसे ज्योतिष तथा वैद्यक की कुछ बातें उनकी रचना में आ गई हैं।

हमारी प्रकाशित एवं प्रचारित पुस्तकें—

काव्य एवं आलोचना

१. केशव की काव्य कला	(ले० कृष्ण शंकर शुक्ल)	२॥)
२. प्रिय प्रवास दर्शन	(ले० लालधर त्रिपाठी)	१॥)
३. वृन्द सतसई सटीक	(टी० श्री कृष्ण शुक्ल)	१।)
४. कदम्ब	(ले० जगमोहननाथ अवस्थी 'आशुकवि')	३)
५. धूएँ के धब्बे	(ले० मनोहर चतुर्वेदी)	२॥)
६. आँसू और कविगण	(सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी)	३॥)
७. वीर विरदावली	(संपा० वियोगी हरि, विश्वनाथ प्र० मिश्र)	१॥)
८. जमाल दोहावली	(सं० महावीरसिंह गहलोत)	१)
९. उर्दू लिपि पर विचार	(,,)	॥=)

स्वास्थ्य-रक्षा, चिकित्सा, जीवन-सुधार एवं आत्मोन्नति

१. आरोग्य मन्दिर	(सं० विजय बहादुरसिंह बी० ए०)	२॥)
२. आहार विज्ञान	(ले० हनूमानप्रसाद शर्मा वैद्यशास्त्री)	२॥)
३. वनस्पति विज्ञान	(,, ,, ,,)	२)
४. आरोग्य विज्ञान	(,, ,, ,,)	२)
५. सुखी जीवन	(ले० विजय बहादुरसिंह, बी० ए०)	१।)
६. सुखी गृहिणी	(ले० हनूमानप्रसाद शर्मा वैद्यशास्त्री)	१।)
७. सफलता का रहस्य	(अनु० ठाकुर शिवनाथ सिंह)	१।)

८. जीवन रक्षा (ले० हनूमानप्रसाद शर्मा, वैद्यशास्त्री) ॥=)
९. दद्रु चिकित्सा (ले० गणेशदत्त शर्मा, गौड़) ॥=)
१०. सिर का दर्द (अनु० रामचन्द्र वर्म्मा) ॥=)
११. दीर्घ जीवन (अनु० गोपालराम गहमरी) ।=)
१२. अमृतपान (ले० रामचन्द्र वर्म्मा) ।=)
१३. सौंफ चिकित्सा (ले० मथुराप्रसाद गुप्त) ।=)
१४. धातु दौर्बल्य चिकित्सा ॥)
१५. मानव-जीवन १।)

उपन्यास

१. एम. ए. बना के क्यों मेरी मिट्टी खराब की ? [सामाजिक] २॥)
२. शैलबाला [ऐतिहासिक] (मू० ले० ननीलाल बंद्योपाध्याय) १॥)
३. सीताराम [आध्यात्मिक] (मू० ले० बंकिम चंद्र चटर्जी) १॥)
४. दुर्गेशनंदिनी [ऐतिहासिक] ,, ,, १।)
५. कृष्णकान्त का वसीयतनामा [सामाजिक] ,, १।)
६. कपालकुंडला [शिक्षाप्रद] ,, ,, १।)
७. रजनी [सामाजिक] ,, ,, १)
८. आनन्दमठ [क्रान्तिकारी] ,, ,, १॥)
९. रंगीला भक्तराज [सामाजिक] (ले० दिनेश) ॥)
१०. योगेश्वरी [आध्यात्मिक] (मू० ले० दामोदर मुखोपाध्याय) १)
११. सच्ची झूठ [सामाजिक] (ले० रामजीदास वैश्य) ॥)
१२. हुगली का इमामबाड़ा [ऐतिहासिक] (मू०ले०स्वर्णकुमारी देवी) १॥)
१३. भेदभरी कोठरी [जासूसी] (ले० श्रीनाथदास अग्रवाल) ॥)
१४. लाल त्रिशूल [जासूसी] (ले० हरफन मौला) ।=)
१५. शराबी [सामाजिक] (ले० पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र') २।)
१६. रक्तचिह्न [ऐतिहासिक] (अनु० बेनीमाधव दीक्षित) १)
१७. भयंकर डकैती [जासूसी] (ले० मुकुन्ददास गुप्त बी. ए.) ॥।)

इतिहास, जीवन चरित्र, आत्मकथा, संस्मरण

१. हिन्दी राजतरंगिणी [इतिहास] (मू० ले० महाकवि कल्हण) १॥), ४)
२. गोर्की के संस्करण (अनु० इलाचन्द्र जोशी) २)
३. इतिवृत्त (ले० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध') २॥)
४. फाहियान का यात्रा विवरण सजिल्द १॥।)

नाटक

१. विसर्जन (मू० ले० रवीन्द्रनाथ टैगोर) ॥=)
२. राजरानी (" ") १)
३. विक्रमोर्वशीय (मू० ले० कालिदास) ।॥=)

व्यंग्य, हास्य, मनोरंजन

१. लोक रहस्य (मू० ले० बंकिमचन्द्र चटर्जी) १)
२. मूर्खराज और चतुरसिंह १।)
३. तू-तू मैं-मैं (ले० सूर्यनारायण व्यास) ।।।)

बालोपयोगी

१. बालमनोरंजन—२ भाग मूल्य प्रत्येक भाग ।=)
२. सद्गुणी बालक (मू० ले० नारायण हेमचन्द्र जोशी) १)

कहानियाँ

१. वाह री ! परीक्षा (लेखक हरि, कृष्ण, गणेश) १।)
२. पश्चात्ताप के पथपर (ले० विश्वेश्वर दयालु त्रिपाठी) २)
३. हँसना रोना (ले० गंगा प्रसाद पाण्डेय) २)
४. वरेठन (ले० इलाचन्द्र जोशी) २)
५. तारे (ले० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल') २)

कामशास्त्र

१. कामकुञ्ज (डाक्टर भगवानदास एम. ए. डी. लिट. की ८० पृष्ठों की भूमिका के साथ) ६)

अन्य

१. घाघ और भड्डुरी की कहावतें (ले० श्रीकृष्ण शुक्ल) १।)
२. भाषा विज्ञान (डा० मंगलदेव शास्त्री) ३।)
३. बुद्ध मीमांसा (सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) २॥)
४. आत्मबोध तरंगिणी (ले० रामावतारदास) ।=)
५. विदेशी दैनिक पत्र (ले० विनोदशंकर व्यास) ।)
६. संध्या कर्म रहस्य (ले० नर्मदाशंकर देव शंकर मेहता) ॥)
७. सौंदर्य विज्ञान (ले० हरिवंश सिंह) ॥।)
८. प्रौढ़ शिक्षा हस्तामलक (श्री नारायण चतुर्वेदी) १।), १॥।)
९. बच्चों की शिक्षा एक जटिल समस्या (मुकुन्द देव शर्मा) १।)

स्थानीय एवं अन्य सभी प्रकाशकों की पुस्तकें हमसे मँगाइए।

पुस्तक-भवन, बनारस